हिन्दू संस्कृति और साहित्य

की

प्रस्तावना

(An Introduction to Hindu Culture and Literature)
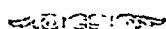
लेखक

साहित्याचार्य प्रो० जनार्दन मिश्र एम० ए०

विहार नेशनल कालेज, पटना
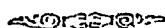
प्रकाशक

विहार-हिन्दी-मन्दिर

बाँकीपुर, पटना

प्रथम संस्करण] संवत् १९९० [मूल्य १)

प्रकाशक—
श्री चन्द्रकिशोर प्रसाद
बिहार-हिन्दी-मन्दिर
बाँकीपुर, पटना

मुद्रक—
पं० रामपुकार मिश्र
हिन्दुस्तानी प्रेस,
गोविन्दमित्र रोड, बाँकीपुर

अवतरणिका

हिन्दू धर्म विशाल है। इसमें इतनी बातें समा गई हैं कि सब को ठीक-ठीक समझना कठिन है। जो बात समझ में आ जाती है उसका सौन्दर्य्य देख कर हृदय मुग्ध हो जाता है। हिन्दू धर्म सम्बन्धी जो सन्देह नित्य हमारे हृदय में उठा करते हैं उन्हें दूर करने की हमने चेष्टा की है।

और धर्मवाले प्राय: कहा करते हैं कि धर्म और दर्शन दो वस्तु हैं। दर्शन तर्क की वस्तु है, पर धर्म में यदि तर्क से काम लिया जाय तो धर्म टुकड़े टुकड़े हो जाय। यह तर्क नहीं श्रद्धा और विश्वास की चीज है। यदि आँख मूँद कर श्रद्धा न की जाय तो धर्म मार्ग में आगे नहीं बढ़ा जा सकता। पर हिन्दू धर्मकी यह विचित्रता है कि श्रद्धा तथा विश्वास के महत्व को मानते हुए भी यह युक्तिसंगत तर्क और विवेक पर आश्रित है। यदि विवेक को सन्तोष न हो तो कोई भी ज्ञानवान आदमी आँख मूँद कर विश्वास करने को तैयार नहीं होगा। मूर्खों को भले ही अन्ध विश्वास का उपदेश दिया जा सकता है, पर ज्ञानवान प्राणी कभी भी ऐसा करने को तैयार नहीं होगा। विवेक को सन्तुष्ट कर श्रद्धा भक्ति का उपदेश देना हिन्दुओं से ही हो सका है।

इस पुस्तक में जिन रहस्यों का उद्‌घाटन किया गया है उनकी कुञ्जी मुझे अपने ही शास्त्र और पुराणों में मिली। मैं जानता हूँ यह काम बहुत बड़ा और बहु परिश्रमसाध्य है। मै इसको पूरा करने के लिये और कुछ दिनों तक ठहर जाता पर ऐसा होने से

कब यह कार्य पूरा होता यह कहना कठिन है। इस पुस्तक के लिखने और प्रकाशित करने में मेरा दूसरा उद्देश्य यह है कि यदि इतना देखकर और कोई योग्य अधिकारी विद्वान् इस विषय को अपने हाथ में लें तो जनता का बड़ा उपकार हो।

भाषा के विषय में मैं यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दी शब्दों के लिङ्ग के विषय में बहुत से अनधिकारी सज्जन अनेक विशृङ्खला फैला रहे हैं। वे फारसी और उर्दू के शब्दों के आधार पर संस्कृत शब्दों के रूप को भी तोड़ मरोड़ कर भ्रष्ट करना चाहते हैं। जैसे—हवा (फा०) स्त्रीलिंग है तो संस्कृत वायु, पवन आदि को भी स्त्रिलिंग लिखते है; इसी प्रकार रुह के साथ आत्मा, जिस्म के साथ देह, खैरियत के साथ कुशल, बू के साथ गन्ध, बंदबू और खुशबू के साथ सुगन्ध दुर्गन्ध आदि शब्दों को स्त्रीलिंग में ही लिखते हैं। न यह मुझे वांछनीय है और न मैं इसके साथ सहानुभूति रखता हूँ। जहाँ तक हो सका है मैंने ऐसे शब्दों को उनके असली रूप में ही व्यवहार करने की चेष्टा की है।

इस पुस्तक के लिखे जाने का श्रेय महासना के. पी. जायसवाल महोदय, प्राच्यविद्यामहार्णव को है जिनके निरंतर प्रोत्साहन से मैं इसमें कुछ अपनी शक्ति और समय लगा सका।

—जनार्दन मिश्र

रघुनन्दन भवन
पटना
भाद्र शुक्ल १४, सं० १९९०

सिद्धान्त खण्ड

A great motif in religion or art, any great symbol, becomes all things to all men; age after age it yields to men such treasures as they find in their own hearts.

—Anandcoomar Swami.

हिन्दू संस्कृति और साहित्य
की
प्रस्तावना

हिन्दुओं की सभ्यता और साहित्य अपनी संस्कृति पर आश्रित है। इस संस्कृति का विकास एक दिन में नहीं हुआ। यह इस जाति की दीर्घकाल-व्यापी कठोर श्रम द्वारा उपार्जित सम्पत्ति है। मानव-समाज का प्रवल से प्रवल मस्तिष्क, सदियों तक नहीं, सहस्रों वर्ष तक इसके विकास के कार्य में तल्लीन था। उसीका अद्भुत फल आज इस रूप में संसार में वर्तमान है।

हिन्दू जाति की संस्कृति कुशाग्रबुद्धि मनीषियों को आश्चर्य में डालकर चकित और मूक कर देने वाली एक अद्भुत वस्तु है। जो इसे जितना ही अधिक समझते हैं, उनका आश्चर्य उतना ही अधिक उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। मानव-समाज के मस्तिष्क की अद्भुत शक्ति का यह नमूना है।

इस संस्कृति को बिना समझे हिन्दू धर्म और साहित्य का मर्म समझ में नहीं आता। मर्म समझना तो दूर रहे, इससे हृदय में ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि जिसके प्रति हमारे हृदय में भक्ति और श्रद्धा होनी चाहिये उसकी ओर घृणा उत्पन्न हो जाती है। जिससे लोग विश्व-कल्याण की आशा करते हैं उससे अपना भी घात ही होता दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दू संस्कृति का आधार दर्शन हैं; दर्शन पर धर्म और धर्म

पर साहित्य का विशाल मन्दिर बना हुआ है। जिसने हिन्दू दर्शन के रहस्य को नहीं समझा वह हिन्दू धर्म को नहीं समझ सकता और जिसने हिन्दू धर्म को नहीं समझा वह हिन्दू साहित्य में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं है। इसी भावना का आश्रय लेकर हिन्दू साहित्य की तालिका इस प्रकार बनाई जा सकती है।
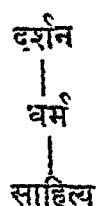
इस तालिका से हमें यह नहीं समझना चाहिये कि पहिले दर्शन का उद्भव और विकास हुआ और उसके बाद उसका आश्रय लेकर क्रमशः धर्म और साहित्य का। इस तालिका से मेरा उद्देश्य यह है कि दर्शन, धर्म और साहित्य साथ ही साथ किसी न किसी रूप में वर्तमान थे और दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार ही इन दोनों के भाव और रूप स्थिर होते थे। दार्शनिक विचारों में ज्यों ज्यों परिवर्तन होता गया त्यों त्यों इनकी भावना और स्वरूप भी बदलते गये। इस परिवर्तन के कारण दार्शनिक सिद्धान्त ही थे।

हिन्दू दर्शन के सिद्धान्तों में भी क्रमविकास दृष्टिगोचर होता है। प्रथम लोगों के हृदय में यह सन्देह था कि ईश्वर है अथवा नहीं। इसके बाद न्याय ने तर्क से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध किया पर उसका कोई स्वरूप निश्चित नहीं किया। सांख्य ने द्वैतवाद के द्वारा प्रकृति और पुरुष के रूप में परा शक्ति के

स्वरूप का निश्चय किया। अन्त में वेदान्त ने अद्वैतवाद द्वारा सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त का प्रचार किया।

दार्शनिक सिद्धान्तों के इस क्रमविकास का काल निर्णय करना कठिन है, पर इसके विकास के क्रम में किसी प्रकार का सन्देह नहीं होता। हम यहाँ अन्तिम सिद्धान्त को ग्रहण कर आगे बढ़ेंगे।

हिन्दू दर्शन का अन्तिम सिद्धान्त है कि आधिभौतिक उपादानों से दृश्य जगत् वा ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। इन ब्रह्माण्डों की सृष्टि दिक् (शून्य) और काल के अन्तर्गत होती है। पृथ्वी ही नहीं, सम्पूर्ण ग्रह-तारका-मण्डल दिशाओं के भीतर ही अवस्थित हैं। यह सुदूर व्यापी आकाश जो कड़ाह की तरह ग्रह-तारकाओं के ऊपर पड़ा हुआ मालूम होता है वह भी दिक् (शून्य अथवा Space) के भीतर ही अवस्थित है। इस प्रकार सोचने से दिक् (Space) का यह विस्तार विशाल और सीमा रहित मालूम होता है। इसी प्रकार इन ब्रह्माण्डों अथवा सृष्टि का जब आदि और अन्त है तो काल की गति के भीतर ही कभी न कभी इसकी उत्पत्ति और लय होता है। यह कार्य आज हो अथवा असंख्य कोटि वर्ष बाद हो परन्तु ह.ता है काल * के भीतर ही। ये सीमा-विहीन दिक् और काल भी

* 'The first touch of Maya, the slightest diminution of absolute Being, is enough to throw it into space and time, though this space and this time will be as near as possible to the absolute unextendedness and eternity. The absolute one is converted into the creater God existent in some space, moving all thing from within without stirring from his place.

और एक शक्ति के अन्तर्भूत हैं और उससे परिचालित होते हैं। इसका नाम है माया। इस माया का कोई अलग अस्तित्व नहीं। यह परब्रह्म की शक्ति का केवल स्फुरण मात्र है। अपने ही में अवस्थित ब्रह्म आत्मविकाश अर्थात् जगत् की सृष्टि की इच्छा से जव अपनी शक्ति का संचालन करता है तो ब्रह्म की शक्ति के स्फुरण को आद्याशक्ति (First erpression of Energy) कहते हैं। वेदान्त के शब्दों में इसी का दूसरा नाम ब्रह्म की वृत्ति है। ब्रह्म अनन्त है। इसकी कोई सीमा नहीं है। सृष्टि-कर्म्म में अपनी शक्ति द्वारा यह अपने ऊपर एक प्रकार की सीमा का आरोप कर लेता है। मा धातु का अर्थ है नापना सीमा वद्ध करना। इसलिये शक्ति के इस स्फुरण को अर्थात् सीमारहित ब्रह्म का अपने को नाम-रूप द्वारा सीमावद्ध कर लेने की क्रिया को माया भी कहते हैं।

ब्रह्म के शक्तिस्फुरण की तीन दशाएँ हैं। शक्ति का निकलना अर्थात् सृष्टि, स्थिर रहना अर्थात् सृष्टि की स्थिति और शक्ति का

God is the absolute objectivised as something somewhere. a spirit that pushes itself into everything. He is being-nonbeing, Brahman—Maya, Subject-object, eternal force, the motionless mover of Aristotle, the Absolute spirit of Hegel the विशष्टाद्वैत (Absolute relative) of Ramanuj, the efficient as well as the final cause of the universe. The world is beginningless and endless, since the energising of God could not have begun and could never come to an end. It is its essential nature to be ever at unrest. Radha-Krishanan: Indian philosophy, Volume 1, P. 39.

फिर आत्म में लीन होना अर्थात् विनाश, संहार, प्रलय वा परिवर्तन है। इन दशाओं को दार्शनिक "गुण" कहते हैं। इन तीनों के नाम क्रमसे रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण हैं। यह हिन्दू दार्शनिकों का तत्त्व है। इसे हृदय में अनुभव करना और इसके अनुसार आचरण करना तत्त्वज्ञान है। इसी आधार पर बना हुआ हिन्दूधर्म ललित काव्य किन्तु ऋषियों की विशाल कल्पना शक्ति का नमूना है।

हिन्दू ईश्वर की उपासना स्त्री और पुरुष के रूप में करते हैं। यह धर्म तीन प्रधान सम्प्रदायों में विभक्त है; शैव, वैष्णव और शाक्त। इन तीनों का स्वरूप उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर बना हुआ सुन्दर काव्य है। हम प्रत्येक के स्वरूप की अलग-अलग विवेचना करेंगे।

शिव

दार्शनिकों के नाम रूप विहीन ब्रह्म को जब हम शिव का नाम और रूप देने की चेष्टा करते हैं तो उनके स्वरूप की कल्पना यों की जाती है—

संसार में जितने रूप हमारे नेत्रों के सामने आते हैं उन में सबसे विस्तृत और विशाल यह व्योममण्डल है। इसकी आकृति गोल और रंग नीला होने के कारण यह ब्रह्म का मस्तक* मान लिया जाता है और नीले रंग से उनके केश की कल्पना की जाती है। इसलिये इसका नाम है व्योमकेश। गगन-मंडल के सब से सुन्दर रत्न चन्द्रमा इनके माथे के एक आभूषण समझे जाते हैं। इसलिये ये चन्द्रचूड़ कहलाते हैं। संसार की प्रबल से

* नभः शिरस्ते देवेश। स्कन्द पु० विष्णुखण्ड २७.४०.

प्रबल शक्ति के भक्षक काल की कल्पना सर्प से की जाती है। वह इनके शरीर पर रेंगता हुआ एक साधारण कीट मात्र है। इसलिये ये भुजंगभूषण कहलाते हैं। वह काल इनकी अपार शक्ति के सामने इतना तुच्छ है कि कभी इनकी कलाई पर झूलता है और कभी इनकी जटाओं के समूह में विलीन हो जाता है। दिक् का विस्तार इतना अधिक है कि उसकी कल्पना करते समय मन के समान तीव्रगामिनी शक्ति भी थक कर विवश हो जाती है। उस ब्रह्म की विशालता के सामने दिक् का विस्तार भी नितान्त तुच्छ है। वह लंगोटी पहनने वाले इस योगीराज की कमर किसी प्रकार ज्यों-त्यों कर ढक सकती है। इसलिये ये दिगम्बर (दिक् + अम्बर) कहलाते हैं। आकाश की दिशाएँ ही इनकी बाहें हैं† जब दिशाएँ चार मानी जाती हैं तो इनकी चार बाहें होती हैं†† और जब इनकी संख्या दश‡ होती है तब इनकी भुजाओं की संख्या भी दश मानी जाती है। तीनों वेद ही इनके तीन नेत्र हैं ‡‡ कभी-कभी सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा इनके तीन नेत्र मान लिये जाते हैं‡‡‡। संसार की उत्पत्ति का मूल

† यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहूः। ऋग्वेद १०.१२१.४.
बाहवः ककुभोनाथ। स्क० वि० २७.४२.

†† दिशश्चतस्त्रव्यय बाहवस्ते। विष्णु पुराण ५.२.१६.

‡ दिशा दश भुजास्ते वै केयूराङ्गदभूषिताः। वायु० २४.१५२
उग्राय च नमो नित्यं नमस्ते दश बाहवे। वायु० ३०.१९१.

‡‡ नमामि वेदत्रयलोचनं तम्। ब्रह्म० पु० १२३.२००

‡‡‡ इन्द्वर्कवन्हि त्रिनेत्रम्। वेदसारशिवस्तोत्रम्।

Sadashiva may be conceived as having only one face set with three eyes which represent the इच्छाशक्ति, the ज्ञानशक्ति

उपादान माया वा प्रकृति पार्वती हैं। कभी-कभी महानर्तक नटराज से इनकी कल्पना की जाती है। शक्ति के स्फुरण का नाम ही क्रिया वा नृत्य है। विश्व की सृष्टि के रूप में महती क्रिया का वह प्रवर्त्तक है। उसीके इशारे से उसकी गति के साथ "आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त" सभी चक्कर काट रहे हैं। इसलिये वह नटराज है। दर्शनशास्त्र के इस भाव को प्रकट करने वाली नटराज की बड़ी सुन्दर दो मूर्तियाँ मद्रास में मिली हैं। वे वहीं के अजायब घर में रक्खी हुई हैं। इन मूर्तियों के एक हाथ में डमरू है, दूसरे में अग्नि; तीसरा अभय हस्त है और चौथा वरद जो उठे हुए पैर की ओर सङ्केत कर रहा है। एक राक्षस पैर के नीचे कुचला पड़ा है। कमर में वस्त्र और सर्प हैं। एक मूर्ति में पाँच-पाँच स्फुलिङ्ग वाला प्रभामण्डल है। दूसरे में प्रभामण्डल नहीं है। इसकी व्याख्या इस प्रकार है—शब्द अर्थात् क्रिया का उत्पन्न करने वाला डमरू वाला हाथ सृष्टि अथवा रजोगुण का बोध कराता है। अग्नि प्रलय वा परिवर्तन का सूचक है। यह तमोगुण का सङ्केत है। अभय हस्त जीवमात्र को आश्वासन देता है। उठा हुआ पैर जीव को मुक्ति प्रदान करने वाला है। वरद हस्त इसकी ओर सङ्केत करता हुआ कहता है कि ईश के चरणों का आश्रय ग्रहण करो। अभय हस्त, वरद हस्त और उठा हुआ पैर ये तीनो सत्त्वगुण (स्थिति) के सङ्केत हैं। कटिवस्त्र और सर्प दिक् और काल हैं। पैर के नीचे पड़ा हुआ असुर मोह है। प्रभा-

and the क्रियाशक्ति, with the चन्द्रकला, which stands as a symbol of ज्ञान tucked up in जटामुकुट and adorned with all ornaments suchas the यज्ञोपवीत।

Gopinath Rao. Hindu Iconography, Vol. II, Pt. I, PP.372.

मण्डल माया है। अपने हाथों और पैर से स्पर्श कर ब्रह्म उसमें शक्ति का संचार करता है। मण्डल की ज्वालाओं के पाँच-पाँच स्फुलिङ्ग पञ्च तत्त्व हैं। विषय वासना से रहित शून्य हृदय श्मशान है। जिन भक्तों के हृदय की विषय-वासना जल कर राख हो गई है उन्हीं के हृदय-श्मशान में शङ्कर का नृत्य होता है

विष्णु

विष्णु शब्द विश् धातु † से निकला है। इसका अर्थ होता है व्याप्त होना। जो विश्व के प्रत्येक अणु में परिव्याप्त है उसे विष्णु कहते हैं। इनकी मूर्ति की कल्पना करते समय कहा जाता है कि "गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्"। चारों दिशाएँ ही चार बाहें हैं। शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म क्रमसे मुक्ति, रक्षा, प्रलय और सृष्टि के सङ्केत हैं (१)। विष्णु के गले में वैजयन्ती माला है। यह पाँच प्रकार के रंग के रत्नों से बनाई जाती है। ये पाँच रंगवाले पाँच-पाँच रत्नों के समूह पञ्च (२) महा-

---

† यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्या महात्मनः।
तस्मात्स प्रोच्यते विष्णुर्विशेर्धातोः प्रवेशनात्॥ विष्णु० ३.१.४६

(१) Vide Hindu Iconography. Gopinath Rao. Vol. I, Part 1, No. 238.

ज्ञानाहंकारकैश्वर्य्यैशब्दब्रह्मासि केशव।
चक्रपद्मगदाशङ्खपरिणामानि धारयन्॥ स्कन्द० वि० १०-३२।

(२) पञ्चरूपातु या माला वैजयन्ती गदाभृतः।
सा भूतहेतुसंघाता भूतमाला च वै द्विज। विष्णु० १.२२.७०.

भास्कर राय कृत ललितासहस्र नाम की टीका में लिखा है कि पृथ्वी का चिन्ह नीलमणि, जल का मोती, अग्नि का कौस्तुभ, वायु का वैदूर्य और आकाश का पुष्पराग है।

भूत हैं, जिन्हें मालारूप में वह अपने गले में धारण करते हैं। दिक् पीताम्बर है। (३) संसार की दो सबसे बड़ी शक्तियाँ लक्ष्मी (धन) और सरस्वती (ज्ञान) इनकी गृह देवियाँ हैं। (४) इनके इशारे पर ये दोनों जगत में अपना नृत्य दिखलाती हैं। लक्ष्मी कमलवन में निवास करती है और मत्त हाथी इनकी सेवा करते हैं। उल्लू इनका वाहन है। इसका अर्थ है कि धन से विलासिता और गौरव की वृद्धि होती है। हाथी या बड़ी बड़ी मोटरों से इसका महत्व प्रकट होता है। जिसने धन एकत्र करना अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया वह दिवान्ध उल्लू है। वह ज्ञान अथवा सत्कर्म के आलोक को सहन नहीं कर सकता। ये क्षीरसागरकन्यका हैं अर्थात् सामुद्रिक व्यापार से प्रचुर धन की प्राप्ति होती है। सरस्वती के हाथ में वीणा पुस्तक और स्फटिक की माला है। वीणा

---

(३) अनन्तपादं बहुहस्तनेत्रमनन्तकर्णं ककुभौघवस्त्रम्।
नृसिंहस्तुतिः स्कन्द० विष्णुखण्ड अध्याय १६.४४.

(४) बिभ्रत्सरस्वतीं वक्त्रे सर्वज्ञोऽसिनमोऽस्तुते।
लक्ष्मीवान् अस्यतो लक्ष्मीं बिभ्रद्वक्षसि चानघ ॥ ब्रह्म० १२२.७१.
वामपार्श्वंगता लक्ष्मीराश्लिष्टा पद्मपाणिना।
वल्लकीवादनपरा भगवन्मुखलोचना ॥ स्कन्द० वि० १०.२४

Refering to fig. 1, plate No. CXII of Sarasvati Mr. Gopinath Rao says:—

It is obviously intended here that Sarasvati is to be looked upon as a Shakti of Shiva. She is also sometimes conceived as a Shakti of Vishnu. Indeed Lakshmi, Sarasvati and Parvati are all identified with the one Devi.

Hindu Iconography, *Vol. II, Pt. I P. P. 378.*

और पुस्तक कला तथा ज्ञान के सङ्केत हैं। साहित्य और सङ्गीत से ही मानव समाज में मनुष्यत्व आता है। इसलिये कहा गया है कि "साहित्यसङ्गीतकला-विहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः"। माला एकाग्रता का चिन्ह है। जब तक चित्त एकाग्र नहीं होता तब तक ज्ञानोपासना की योग्यता नहीं होती। ज्ञान निर्मल और प्रकाशमय है। इसलिये सरस्वती 'शुक्ला' और 'कुन्देन्दुतुषारहारधवला' हैं। सरस्वती के भक्त ज्ञानी का चरित्र विशुद्ध होता है। यही शुभ वर्ण वाला शारदा का वाहन राजहंस है। ज्ञानी कर्म से अकर्म को, सत्कर्म से दुष्कर्म को पुण्य से पाप को अलग कर सत्कर्म और पुण्य कर्म का ग्रहण-करते हैं। यही राजहंस का क्षीर-नीर-विवेक है।

असंख्य मुख से जगत का संहार करने वाला काल सहस्र-मुख शेष हैं। विष्णु शेषनाग की छाती पर पड़े रहते हैं। शेष काल का संकेत है। काल हजारों मुख से जगत का संहार करता है, इसलिये शेष के सहस्र मुख हैं। जो काल इतना बली है कि कोई भी इसकी गति का अवरोध नहीं कर सकता, वह भी ब्रह्म की शक्ति के सामने तुच्छ है। यह कभी उसकी छाती पर सोता है और कभी पैर रख कर स्थिर रहता है। इसके विषय में शेष स्तुति में विष्णुपुराण में लिखा है—

त्वया धृतेयं धरणी बिभर्त्ति चराचरं विश्वमनन्तमूर्ते।
कृतादिभेदैरजकालरूपो निमेषपूर्वो जगदेतदत्सि॥

विष्णु पुराण ५-९-२९.

काल की सर्वदा सर्परूप में कल्पना की जाती है स्कन्द

पुराण के उत्तरखण्ड में श्रीरामस्तुति में काल को सर्प कहा गया है।

श्रीरामः शरणं समस्त जगतां रामं विना का गती।
रामेण प्रतिहन्यते कलिमलं रामाय कार्यं नमः॥
रामात्त्रस्यति कालभीमभुजगो रामस्य सर्वं वशे।
रामे भक्तिरखण्डिता भवतु मे राम त्वमेवाश्रयः॥

शङ्कर स्तुति के सम्बन्ध में तुलसीदास ने लिखा है

कालव्यालकरालभूषणधरम्।

लंका का० श्लोक २

इससे स्पष्ट होता है कि आर्षग्रन्थों की देवी-देवता से सम्बद्ध सर्प काल का सङ्केत है।

जब योगदर्शन और यौगिक साधनाओं का प्रभाव हिन्दू समाज पर प्रबल हुआ, मालूम होता है कि उसी समय पृथ्वी का विष्णु मूर्ति के साथ सन्निवेश किया गया और इसे शेप-नाग के मस्तक पर रख दिया गया। स्कन्द पुराण में लिखा है कि वराह भगवान बैठे हुए थे। उनके निकट धरणी देवी आई।

ततः समागता देवी धरणी सखिसंयुता।
सरत्नसागराकारदिव्याम्बरसमुज्वला॥ २८
सुमेरुमन्दराकारस्तनभारावनामिता।
नवदुर्वादलश्यामा सर्वाभरणभूषिता॥ २९
इलया गौ पिङ्गलया सखीभ्याञ्च समन्विता।

विष्णुखण्ड। अध्याय १।

यहाँ धरणी देवी के साथ सखी रूप में इडा और पिङ्गला की चर्चा करने से स्पष्ट है कि धरणी सुषुम्ना नाडी हैं, शेप

सर्पाकृतिवाली कुण्डलिनी शक्ति हैं और विष्णु योगियों के ब्रह्म हैं। यहाँ विष्णु की कल्पित मूर्ति में वेदान्त और सांख्य के साथ साथ योग का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

विष्णुमूर्ति की नाभि से एक कमल उत्पन्न होता है। उसीसे ब्रह्मा की उत्त्पति होती है उसी कमल पर बैठे वे वेदगान किया करते हैं। रूपमण्डन में ब्रह्म के चतुर्मुखत्व का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

ऋग्वेदादिप्रभेदेन कृतादियुगभेदतः।
विप्रादिवर्णभेदेन चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम्॥

महाभारत और पाली ग्रन्थों से पता लगता है कि एक समय ब्रह्मा की भी पूजा होती थी। पिछले युगों में दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार ब्रह्मा के रूप में यथोचित परिवर्तन न हो सकने के कारण ब्रह्म के साथ इनका एकत्व स्थापित न हो सका। मालूम होता है कि इसीसे इनकी पूजा धीरे धीरे उठ गई।

पिछले युगों में त्रिदेव की संस्थापना गुणों के आधार पर की गई। इसलिये ब्रह्म के साथ तीनों के एकत्व के प्रतिपादन में कोई कठिनता न रही। केवल ब्रह्म की ये तीन अवस्थाएँ मानी जाने लगी। यह सिद्धान्त प्रायः सभी पुराणों में विस्तार-पूर्वक प्रतिपादित किया गया है। जो लोग इन मूर्तियों में ऐतिहासिकता का आरोप करते हैं, कल्पना की सृष्टि नहीं मानते उन्हें विष्णु पुराण के इन श्लोकों को ध्यान से पढ़ना चाहिये। श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए अक्रूर कहते हैं।

* हे भगवन् आपही भूतात्मा इन्द्रियात्मा प्रधानात्मा तथा परमात्मा इन पाँचों रूपों में स्थित हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव इत्यादि रूपों मेंआप ही की कल्पना की जाती है। जो कुछ क्षर और अक्षर कहलाता है वह आपही हैं। आप प्रसन्न होइये। आप के स्वरूप प्रयोजन और नाम का वर्णन नहीं हो सकता। हे परमेश्वर मैं आप को नमस्कार करता हूँ। हे नाथ जहाँ नाम और रूप की कल्पना भी नहीं की जा सकती वही नित्य परम ब्रह्म

* भूतात्मा चेन्द्रियात्मा च प्रधानात्मा तथा भवान्।
आत्मा च परमात्मा च त्वमेकः पञ्चधा स्थितः॥ ५०
प्रसीद सर्व सर्वात्मन् क्षराक्षरमयेश्वर।
ब्रह्मविष्णुशिवाद्याभिः कल्पनाभिरुदीरितः॥ ५१
अनाख्येयस्वरूपात्मन् अनाख्येयप्रयोजन।
अनाख्येयाभिधानं त्वां नतोऽस्मि परमेश्वर॥ ५२
न यत्र नाथ विद्यन्ते नाम-जात्यादि-कल्पनाः।
तद् ब्रह्म परमं नित्यमविकारि भवानज॥ ५३
न कल्पनामृतेऽर्थस्य सर्वस्याधिगमो यतः।
ततः कृष्णाच्युतानन्तविष्णुसंज्ञाभिरीड्यते॥ ५५
सर्वार्थास्त्वमज-विकल्पनाभिरेतत्
देवाद्यं जगदखिलं त्वमेव विश्वम्।
विश्वात्मंस्त्वमिति विकारभावहीनः
सर्वस्मिन् न हि भवतोऽस्ति किञ्चिदन्यत्॥५५
त्वं ब्रह्मा पशुपतिरर्यमा विधाता
धाता त्वं त्रिदशपतिः समीरणोऽग्निः।
तोयेशो धनपतिरन्तकस्त्वमेको
भिन्नार्थैर्जगदपि पासि शक्तिभेदैः॥५६
विष्णु०—अंश ५ अध्याय ९

श्लोक—५०-५४ तक ज्यों के त्यों ब्रह्म और वायु पुराणमें भी मिलते हैं।

आप हैं। विना कल्पना के कोई विषय समझ में नहीं आ सकता। इसलिये कृष्ण, अच्युत, अनन्त, विष्णु नाम से आप पूजे जाते हैं। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह आप ही हैं आप को छोड़ कर और कुछ भी नहीं है। आप ही ब्रह्मा, पशुपति, अर्य्यमा, विधाता, धाता, देवताओं के अधीश्वर, वायु, अग्नि, यम, वरुण कुवेर आदि हैं। अपनी शक्ति द्वारा अनेक रूप से आप ही संसार की रक्षा करते हैं।

† विष्णु पुराण में ही अन्यत्र लिखा है कि सृष्टि, रक्षा और विनाश करने के कारण एक आप ही ब्रह्मा, विष्णु और शिव का नाम धारण करते हैं। एक ब्रह्म ही स्रष्टा और सृष्टि, पाल्य और पालक और संहारकर्त्ता हैं।

शक्ति

ब्रह्म नाम-रूप विहीन है। अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार हम उसकी कल्पना करते हैं। पुरुष रूप में उसकी कल्पना करने के साथ ही साथ मातृरूप में भी उसकी कल्पना की जाती है। मार्कण्डेय पुराण में ब्रह्मस्तुति में लिखा है कि

---

† सृष्टिस्थित्यन्तकरणाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मिकाम् ।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः ॥
स्रष्टा सृजति चात्मानं विष्णुः पाल्यश्च पाति च ।
उपसंह्रियन्ते चान्ते च संहर्त्ता च स्वयं प्रभुः ॥
विष्णु० अंश १ अध्याय २ श्लोक ६२, ६३

ब्रह्मा ने कहा[†] :—'तुम्हारा ही नाम स्वाहा स्वधा और वषटकार है। स्वर की आत्मा तुम्हीं हो। तीन मात्राओं द्वारा अवस्थित नित्य और अक्षर नामधारी अमृत तुम्हीं हो। वह सावित्री तुम्हीं हो और तुम्हीं सब से बड़ी माता हो। जिस अर्द्धमात्रा का उच्चारण करना कठिन है उसके स्वरूप में

[†] ब्रह्मोवाच :—त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि वषट्कारः स्वरात्मिका।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधामात्रात्मिका स्थिता। ५४।
अर्द्धमात्रास्थिता नित्या यानुचार्य्या विशेषतः।
त्वमेव सा त्वं सावित्री त्वं देवी जननी परा। ५५।
त्वमेव धार्य्यते सर्वं त्वयैतत् सृज्यते जगत्।
त्वयैतत्पाल्यते देवि! त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा। ५६।
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने।
तथा संहृतिरूपान्ते जगतोऽस्य जगन्मये। ५७।
महाविद्या महामाया महामेधा महास्मृतिः
महामोहा च भवती महादेवी महासुरी। ५८।
प्रकृतिस्त्वञ्च सर्वस्य गुणत्रय-विभाविनी।
कालरात्रिर्महारात्रिर्मोहरात्रिश्च दारुणा। ५९।
त्वं श्रीस्त्वमीश्वरी त्वं ह्रीस्त्वंबुद्धिर्बोधलक्षणा।
लज्जा पुष्टिस्तथा तुष्टिस्त्वं शान्तिः क्षान्तिरेव च। ६०।
खड्गिनी शूलिनी घोरा गदिनी चक्रिणी तथा।
शंखिनी चापिनी बाणा, भुसुण्डी परिघायुधा। ६१।
सौम्या सौम्यतराशेष-सौम्येभ्यस्त्वतिसुन्दरी।
परा पराणां परमा त्वमेव परमेश्वरी। ६२।
यच्च किञ्चित् क्वचिद्वस्तु सदसद्वाखिलात्मिके।
तस्य सर्वस्य या शक्तिः सा त्वं किं स्तूयसे तदा। ६३।
मार्कण्डेय पुराण अध्याय ८१ श्लो० ५४ से ६३।

तुम्हीं नित्य अवस्थित रहती हो †। तुम्हीं इस संसार की सृष्टि, धारण, पालन और अन्त में सर्वदा संहार किया करती हो। सृष्टि के समय सृष्टिरूप, स्थिति के समय पालनरूप तथा अन्त में संहृति रूप होकर वर्तमान रहती हो। तुम्हीं महाविद्या, महामाया, महामेधा, महास्मृति, महामोह, महादेवी, महाराक्षसी, सबकी तीन गुणोंवाली जननी प्रकृति कालरात्रि महारात्रि और दारुणमोह-रात्रि, लक्ष्मी, पार्वती, ह्रीं और ज्ञानदेनेवाली बुद्धि, लज्जा, पुष्टि, तुष्टि, शान्ति, क्षान्ति हो। तुम्हीं खड्गिनी, शूलिनी, घोर गदाधारण करनेवाली, चक्रिणी, शंखिनी, चापिनी, तथा बाण भूसुण्डी परिघ इत्यादि अस्त्रोंवाली हो। तुम सौम्य से भी सौम्य और जो सब से बढ़कर सुन्दर है उससे भी सुन्दरी हो। पर और अपरों की तुम सब से बढ़कर परमेश्वरी हो। संसार में अच्छी और बुरी जहाँ कहीं और जो कुछ भी वस्तु है उन सबों की शक्ति तुम्हीं हो। तुम्हारी स्तुति हम क्या करें।'

+ राजा सुरथ के पूछने पर कि देव कौन है उनका कैसा स्वभाव और स्वरूप है मेधाऋषि ने उत्तर दिया कि वे नित्य हैं।

---

† देखिये—अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोंकार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद

मण्डूक्योपनिषत् ॥ १२

+ राजोवाचः—भगवन् का हि सा देवी महामायेति यां भवान्।
ब्रवीति कथमुत्पन्ना सा कर्मास्याश्च किं द्विज! ४५।
यत् स्वभावा च सा देवी यत्स्वरूपा यदुद्भवा।
तत्सर्वं श्रोतुमिच्छामि त्वत्तो ब्रह्मविदाँ वर। ४६।
ऋषिरुवाचः—नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्।
तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम। ४७।
देवानां कार्य्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते। ४८।

मार्कण्डेयपुराण अ० ८१ श्लोक ४५ से ४८

संसार ही उनकी मूर्ति है। उन्हींके द्वारा यह सब कुछ फैलाया गया है। तोभी मैं उनकी उत्पत्ति का वर्णन करता हूँ। वह तो नित्य है किन्तु देवताओं की कार्यसिद्धि के लिये जब वह प्रकट होती है तो लोग उसे 'उत्पन्न' कहा करते हैं।"

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि उपनिषद् में दिये हुए ब्रह्म, और उसकी शक्ति और अमृतत्व के वर्णन का यह रूपान्तर मात्र है। उपनिषदों में लिखा है कि ब्रह्म अमृत है, अक्षर है इत्यादि। देवी माहात्म्य का "सुधा त्वमक्षरे नित्ये" उसीका रूपान्तर मात्र है। "त्रिधामात्रात्मिका स्थिता। अर्द्धमात्रास्थिता नित्या" से उपनिषद् के तीनमात्रा (अ उ म) और अर्द्धमात्रा (ँ) वाले ॐकार का भाव है; अर्थात् ॐ-ब्रह्म और ॐ-माता में कोई अन्तर नहीं है। देवी माहात्म्य में ही अन्यत्र लिखा है—

> यस्याः प्रभावमतुलं भगवाननन्तो
> ब्रह्मा हरश्च नहि वक्तुमलं बलञ्च।
> सा चण्डिकाखिलजगत्परिपालनाय
> नाशाय चाशुभभयस्य मतिं करोतु॥
>
> मार्कण्डेय० ८४.३

अर्थात् माता चण्डिका के प्रभाव को विष्णु, ब्रह्मा, और हर भी अच्छी तरह वर्णन नहीं कर सकते। इसका अर्थ स्पष्ट है कि त्रिदेव से भी परा अवस्था वाले ब्रह्म ही चण्डिका हैं।

> या मुक्ति हेतुरविचिन्त्य महाव्रता च
> अभ्यस्यसे सुनियतेन्द्रियतत्त्वसारैः।

मोक्षार्थिभिर्मुनिभिरस्तसमस्त दोषै—
र्न ज्ञायसे हरिहरादिभिरप्यपारा ॥

मार्कण्डेय० ८४.८

उपनिषद् के ब्रह्म के लिये योगी जन जो साधना करते हैं यह उसीका वर्णन है।

जिस प्रकार पुरुष और प्रकृति का वर्णन कर दार्शनिक कहते हैं कि इन सभीका अधिष्ठाता परमब्रह्म वा पुरुषोत्तम है उसी प्रकार मातृरूप में सर्वेश को परमामाया वा वैष्णवीशक्ति कहा गया है—

त्वं वैष्णवीशक्तिरनन्त वीर्या
विश्वस्य वीजं परमासि माया।
सम्मोहितं देवि समस्तमेतत्
त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्ति हेतुः ॥

मार्कण्डेय० ८१.४

इस श्लोक की अन्तिम पंक्तियों से उपनिषद् की याद आती है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

जिस प्रकार ब्रह्म के नाना प्रकार के रूप और विभूतियों का वर्णन गीता, रामायण, तथा पुराणों में किया गया है, देवी माहात्म्य में भी ठीक वैसा ही किया गया है। निशुम्भ के मारे जाने पर शुम्भ ने दुर्गा से कहा—"दुर्गे, अपने बल का गर्व न करना। दूसरों की शक्ति की सहायता से लड़ रही हो, और इस पर भी

इतना गर्व !" देवी ने कहा—" मैं तो एक ही हूँ। मुझको छोड़ कर संसार में और दूसरी कौन है ? रे दुष्ट, देख, मेरी विभूतियाँ मेरे शरीर में प्रवेश कर रही हैं।" तब ब्रह्माणी इत्यादि सभी देवियाँ उस देवी के शरीर में प्रवेश कर गईं। तब केवल अम्बिका ही बच गईं। देवी ने कहा—"मैं अपनी अनेक विभूतियों के रूप में वर्तमान थी। उन सबको मैंने समेट लिया; अब मैं अकेली हूँ। अब युद्ध में विचलित न होना।†"

यह गीता और रामायण के विश्वरूप दर्शन का वर्णन है।

यहाँ देवी माहात्म्य के कुछ श्लोकों और गीता तथा अन्य आर्षग्रन्थों के श्लोकों को मिला कर पढ़ने से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है—

नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम्

मार्कण्डेय० ८१ ७

वह नित्य है। संसार ही उसकी मूर्ति है। उसीने यह सब फैला रखा है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्व भूतानि नचाहं तेष्ववस्थितः॥

गीता ९.४

इस सारे संसार में अव्यक्त रूपसे मैं ही व्यापक हूँ। सब प्राणी मुझ में ही स्थित हैं, मैं उन में नहीं हूँ।

तद्विश्वरूपरूपं वै रूपमन्यद्धरेर्महत्।
समस्तशक्ति रूपाणि तत्करोति जनेश्वर॥

विष्णु ६.७.७४

† मार्कण्डेय पु० ९०.२-५

सम्पूर्ण संसार ईश्वर का दूसरा रूप है। शक्तियों के सभी रूपों को वही सर्वेश बनाता है।

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः॥

मार्क० ९०.३

संसार में एक ही मैं हूँ। मुझको छोड़ कर और कौन है। रे दुष्ट, मुझमें प्रवेश करती हुई इन मेरी विभूतियों को देख।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छत्वं ममतेजोंशसम्भवम्॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥

गीता० १०.४१, ४२

जो ऐश्वर्यवान् वा श्रीमान् हैं उनको मेरे ही अंश से उत्पन्न जानो। हे अर्जुन, अथवा इस बहुत ज्ञान से तुझे क्या प्रयोजन। इस सारे संसार को मैं एक अंश से पकड़ कर स्थित हूँ।

देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा।
उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते।

मार्क० ८१.४८

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम्॥

मर्क० ९२.४६

देवताओं के कार्य की सिद्धि के लिये जब वह प्रकट होती है तो उस अविनाशी शक्ति को लोग कहते हैं कि "उत्पन्न"

हुई। इस प्रकार जब जब दुष्टों द्वारा बाधा उपस्थित की जायगी तब तब मैं अवतीर्ण होकर शत्रुओं का संहार करूँगी।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

गीता० ४.६८

मैं अजन्मा नित्य और सब जीवों का स्वामी हूँ। अपनी प्रकृति का अवलम्बन कर मैं अपनी माया द्वारा प्रकट होता हूँ। हे अर्जुन, जब जब धर्म की हानि और अधर्म की उन्नति होती है, तब तब मैं अपनेको प्रकट करता हूँ। सज्जनों की रक्षा (देवानां कार्यसिद्ध्यर्थम्), दुष्टों का नाश और धर्म की स्थापना के लिये मैं प्रत्येक युग में प्रकट होता हूँ।

इस से स्पष्ट है कि वेदान्त के ब्रह्म और मातृब्रह्म में कोई विभेद नहीं है। वे एक ही हैं।

जिस प्रकार तीनों गुणों को आधार मान कर त्रिदेव † की

---

† गुणेभ्यः क्षोभमाणेभ्यस्त्रयो देवा विजज्ञिरे।
एका मूर्तिस्त्रयो भागा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥

मत्स्य पु० ३.१६

गुणाभिव्यक्तिभेदेन मूर्तोऽसौ त्रिविधो भवेत्।
ब्रह्मा विष्णुः शिवश्चेति एक एव त्रिधोच्यते॥

ब्रह्म पु० १३.९

कल्पना की जाती है उसी प्रकार गुणों के आधार पर ही मातृ-ब्रह्म के तीन रूप माने गये हैं। तमोगुण की अधिष्ठात्री महाकाली††, रजोगुण की महालक्ष्मी, और सत्त्वगुण की महासरस्वती हैं। महाकाली का वर्ण है घोर काला, महालक्ष्मी का लाल और महासरस्वती का उजला है। ये सब स्त्रीरूप ब्रह्म के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं।

अब यह स्पष्ट हो गया कि मातृरूप में भी पुरुषरूप वाले दार्शनिक सिद्धान्त से काम लिया गया है। दुर्गा के अवतार के विषय में मार्कण्डेय पुराण में ही तीन प्रसङ्गों का वर्णन किया गया है। महाप्रलय का जलप्लावन फैला हुआ था। शेषशय्या पर विष्णु सोये हुए थे। उनके कान के मल से मधु और कैटभ नामक असुर उत्पन्न हुए। उन्होंने ब्रह्मा को नाभिकमल पर बैठे देख उनकी हत्या करने की इच्छा की। ब्रह्मा की स्तुति से प्रसन्न होकर तामसी योगमाया ने विष्णु के शरीर का परित्याग किया। वे उठ बैठे और उन दोनों से लड़ने लगे। फिर तामसी योगमाया ने राक्षसों की बुद्धि भ्रष्ट कर दी और वे विष्णु के हाथ मारे गये। यह कथा दुर्गासप्तशती के प्रथम अध्याय † में है और साधकगण इसे महाकाली पटल कहते हैं।

दूसरी कथा उसी ग्रन्थ के द्वितीय से चतुर्थ अध्याय तक में ‡ दी हुई है। देवता और असुरों में एक बार सौ वर्ष तक युद्ध

---

†† एवं स्तुता तदा देवी तामसी तत्र वेधसा।
विष्णोः प्रबोधनार्थाय निहन्तुं मधुकैटभौ॥

मार्क० ८१.६८

† मार्कण्डेय पुराण अध्याय ८१

‡ मार्कण्डेय पुराण अध्याय ८२-८४

हुआ। देवगण हार कर विष्णु की शरण में गये। सबकी एक सभा हुई। उस सभामण्डप में ही सबके तेज से एक नारी-मूर्ति प्रकट हुई। अस्त्र-शस्त्र देकर सबने उसका बड़ा आदर किया। उसने भी प्रसन्न हो राक्षसों के सरदार महिषासुर से युद्ध कर उसे मार डाला। यह संगठन द्वारा राजसी ऐशी शक्ति के विकास करने की कथा है। इसे महालक्ष्मी पटल कहते हैं।

तीसरी कथा दुर्गा और शुम्भनिशुम्भ के युद्ध का वर्णन करती है। यह ५—१३ अध्याय ‡‡ तक में है। इसमें देवी की विभूतियाँ नाना रूप में प्रकट हो असुरों का संहार करती हैं। यह विशुद्ध ज्ञान का नाम-रूप में प्रकट होकर आसुरी वृत्तियों के साथ युद्ध करने का इतिहास है। जहां सत्य के ज्ञान का जितना विस्तार होता है, सत्य के जितने उपासक होते हैं, ईश्वर की सात्त्विक शक्ति भी उतने ही रूप में वहां प्रकट होती है। वहां रक्तबीज के समान प्रबल से प्रबल आसुरिक वृत्तियाँ भी नहीं ठहर सकतीं। यह सात्त्विक शक्ति की कथा है। इसका नाम महा सरस्वती पटल है।

देवी के रूप की कल्पना भी एक मनोहर काव्य है। कभी इनकी चार, कभी आठ, कभी दस और कभी सहस्र भुजाएँ मानी जाती हैं। यह ईश्वर की अनन्त शक्तियों का ब्रह्माण्ड की अनन्त दिशाओं में विस्तार का सङ्केत है। जो अपनी साधना और तपस्या द्वारा अपने शरीर और मन में, अपने कर्म और आत्मा में, सिंह का पराक्रम उत्पन्न कर लेता है वह इसका वाहन सिंह है। ऐसे सिंहों की पीठ पर ही शक्ति सवार रहती है और

---

‡‡ मार्कण्डेय पुराण अध्याय ८५-९३

अपना अद्भुत पराक्रम दिखलाती है। गणेश, लक्ष्मी, सरस्वती और कार्तिकेय का साथ रहना यही प्रकट करता है कि महती ब्रह्मशक्ति बुद्धिबल, धनबल, ज्ञानबल और सैन्यबल के रूप में संसार में वर्तमान रहती है। जो व्यक्ति वा राष्ट्र इनका उचित संगठन और उपयोग जानता है वही शक्ति-वाहन सिंह बन कर इस भू-कानन का कल्याण करता हुआ इसमें निर्भय विचरण किया करता है।

ओंकार

दर्शनशास्त्र के नाम और रूप की सृष्टि में ओंकार का सब से ऊँचा स्थान है। यह ब्रह्म के नाम और रूप की आदिम और वैज्ञानिक कल्पना है। हम अनन्त अप्रमेय ब्रह्म को अपने हृदय के भीतर अनुभव कर सकते हैं, पर ज्यों ही किसी प्रकार उसे कल्पना के भीतर लाने वा प्रकट करने की चेष्टा करते हैं त्यों ही नाम और रूप की आवश्यकता पड़ जाती है। इसके बिना हम एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकते। दूसरे शब्दों में इसे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि ब्रह्म असीम है। अपनी शक्ति के सञ्चालन में ज्यों ही वह अपने ऊपर किसी प्रकार की सीमा डाल लेता है त्यों ही वह मायायुक्त (माया-सम्पन्न) ब्रह्म अथवा नाम और रूप वाला ब्रह्म हो जाता है। इसी नाम और रूप का सङ्केत ओंकार है। काल और दिक् को आवृत करने वाला जो माया चक्र है (चिह्न,—ँ) जिसका नाम प्रकृति, अव्यक्त, महत्, प्रधान आदि है, जो ब्रह्म की आद्याशक्ति (प्रथम सीमा limitation) है, मन, कल्पना आदि की गति जहां जाकर रुक

जाती है वही ॐकार का रूप है और नाम है। ब्रह्म पुराण में लिखा है:—

सैव वागब्रवीद्दैवी प्रकृतिर्याभिधीयते।
विष्णुना प्रेरिता माता जगदीशा जगन्मयी ॥
ॐकार भूता या देवी मातृकल्पा जगन्मयी ॥

ब्रह्म० अध्याय १६१ श्लोक १४, १८।

"जगत् की अधीश्वरी, जगज्जननी, जगन्मयी, माता, जिसका नाम प्रकृति है और जो ॐकार स्वरूप से अवस्थित है उसने विष्णु से प्रेरित होकर कहा।" इससे मालूम होता है कि मायाचक्र ही ॐकार की आकृति का आरम्भ है। दूसरे शब्दों में यही बात इस तरह कही जा सकती है कि ॐकार नाम और रूप का चिह्न है। जहाँसे नाम और रूप का आरम्भ होता है ॐकार उस स्थिति का सङ्केत करता हुआ ब्रह्म का द्योतक है।

अर्थात् यह ॐकार मायाचक्र का किञ्चित परिवर्तित रूप है। मायावृत्त गोलाकार (०) है। यह सबको लपेट कर अपने भीतर आवृत कर रखता है। इसलिये थोड़ा लपेट उत्पन्न होने से ही इसका यह रूप ( ) हो जाता है। इसके बाहर चन्द्रविन्दु के रूप में अर्द्धमात्रा अवस्थित है। वह अनिर्वचनीय ब्रह्म का सङ्केत है। मातृब्रह्म के वर्णन में लिखा है।

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वंहि वषट्कारः स्वरात्मिका।
सुधा त्वमक्षरे नित्ये त्रिधामात्रात्मिका स्थिता ॥
अर्द्धमात्रास्थिता नित्या यानुच्चार्य्या विशेषतः।

मार्कण्डेय पु० ८१.५५।

"तुम स्वाहा, स्वधा, वषट्कार का आत्मा हो। तुम अमृत, अक्षर, नित्य हो और तीन मात्राओं का (ॐ = अ उ म) प्राण बन कर स्थित हो। तुम अविनाशी, (का सङ्केत) अर्द्धमात्रा (ँ) हो, जिसका विशेष उच्चारण नहीं हो सकता।"

माया भी ब्रह्म के अन्तर्गत है। इसलिये ब्रह्म का सङ्केत मायाचक्र के बाहर है।

ॐकार ब्रह्म का सर्वप्रथम नाम है। सबसे पहला शब्द ही ईश्वर का उपयुक्त नाम हो सकता है। शब्दमात्र के उच्चारण में हमें कण्ठद्वार खोलना पड़ता है। इसके खोलने और बन्द करने में जिस शब्द का उच्चारण होता है वह ॐ है। ॐ से भी सरल अ है, किन्तु अ के उच्चारण में कंठ खुला रहता है, बन्द नहीं होता। हम अनन्तकाल तक कण्ठ को खुला नहीं रख सकते, इसे बन्द करना ही पड़ेगा। ज्योंही हम कण्ठ बन्द करना चाहते हैं त्यों ही उच्चारित शब्द ॐ बन जाता है। कण्ठ का खोलना और बन्द करना जितना सरल और स्वाभाविक है ॐ का उच्चारण भी उतना ही सरल और स्वाभाविक है। इससे सिद्ध होता है कि ॐ ही सब से सरल स्वाभाविक और प्रथम शब्द है। इसलिये यह ब्रह्म का वैज्ञानिक नाम है। वेद अथवा ज्ञानमात्र शब्द के भीतर आ जाते हैं। इसलिये कहा जाता है क वेदों की उत्पत्ति ॐकार से हुई है। ॐकार की आलंकारिक उत्पत्ति और रूप के विषय में वायुपुराण में लिखा है—

पुराह्येकार्णवे वृत्ते दिव्ये वर्षसहस्रके।
स्रष्टुकामः प्रजा ब्रह्मा चिन्तयामास दुःखितः ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रादुर्भूतः कुमारकः ।
दिव्यगन्धः सुधापेक्षी दिव्यां श्रुतिमुदीरयन् ॥
अशब्दस्पर्शरूपां तामगन्धां रसवर्जिताम् ।
श्रुतिं ह्युदीरयन्देवो यामविन्दच्चतुर्मुखः ॥
ततस्तु ध्यानसंयुक्तस्तप आस्थाय भैरवम् ।
चिन्तयामास मनसा त्रितयं कोऽन्वयन्त्विति ॥
तस्य चिन्तयमानस्य प्रादुर्भूतं तदक्षरम् ।
अशब्दस्पर्शरूपञ्च रसगन्धविवर्जितम् ॥
अथोत्तमं स लोकेषु स्वमूर्तिञ्चापि पश्यति ।
ध्यायन्वै स तदा देवमथैनं पश्यते पुनः ॥
तं श्वेतमथ रक्तञ्च पीतं कृष्णं तदा पुनः ।
वर्णस्थं तत्र पश्येत न स्त्री न च नपुंसकम् ॥
तत्सर्वं सुचिरं ज्ञात्वा चिन्तयन्हि तदक्षरम् ।
तस्य चिन्तयमानस्य कण्ठादुत्तिष्ठतेऽक्षरः ॥
एकमात्रो महाघोषः श्वेतवर्णः सुनिर्मलः ।
स ॐकारो भवेद्वेदः अक्षरं वै महेश्वरः ॥
ततश्चिन्तयमानस्य त्वक्षरं वै स्वयंभुवः ।
प्रादुर्भूतं तु रक्तं तु स देवः प्रथमः स्मृतः ॥
ऋग्वेदं प्रथमं तस्य त्वग्निमीळे पुरोहितम् ॥

ब्रह्म · अध्याय २१ । श्लोक ७-१६

"प्राचीन काल में देवताओं के सहस्रों वर्ष तक चारो ओर जब जल ही जल था तब सृष्टि की इच्छा से दुखित हो कर ब्रह्मा सोचने लगे। जब वे सोच रहे थे उसी समय शब्द स्पर्श-रूप-रस-गन्ध रहित दिव्य श्रुति को उच्चारण करता हुआ अमृत

तुल्य और दिव्य गन्ध वाला एक कुमार प्रकट हुआ। उस श्रुति को ब्रह्मा ने ग्रहण किया। उसके बाद भयङ्कर तप द्वारा ध्यान में लीन हो कर तीन बार उन्होंने सोचा यह कौन है? जब वे सोच रहे थे उसी समय शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध विहीन वह अक्षर प्रकट हुआ। तब जगत में उन्हें अपनी उत्तम मूर्ति दिखलाई पड़ी और ध्यान कर के उन्होंने इसे फिर देखा। देखते हैं कि यह न स्त्री न पुरुष और न नपुंसक है। उजला, लाल, पीला और फिर काला भी है और वर्णस्थ है अर्थात् अक्षर है। बहुत देर तक सोच समझ कर वे अक्षर की चिन्ता करने लगे। उनके सोचते-सोचते उनके कण्ठ से एक मात्रा वाला महाघोष; श्वेतवर्ण का निर्मल अक्षर (ब्रह्म) निकला। वह ॐकार वेद हुआ। अक्षर का ही नाम महेश्वर है। स्वयंभू जब अक्षर के विषय में विचार कर रहे थे उसी समय वह पूज्य अक्षर रक्त वर्ण में प्रकट हुआ। उसीका नाम अग्निमीडे पुरोहितम् वा सबसे पहिला ऋग्वेद हुआ"।

इसके बाद क्रम से वेदों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

ॐकार के भीतर ही तीनों गुण काम करते हैं। इसलिये इसके भीतर ही त्रिदेव, त्रिलोक, त्रयी, त्रिवृत्ति आदि की उत्पत्ति और लय होता है। इसका विश्लेषण करने से तीन अक्षरों (अ, उ, म,) की प्राप्ति होती है। ये तीनों अक्षर उपर्युक्त त्रिधाराओं के द्योतक हैं। वायुपुराण के बीसवें अध्याय में लिखा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म गुहायां निहितं पदम्।
ओमित्येतत् त्रयोवेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः॥ ६॥

विष्णुक्रमास्त्रयस्त्वेते ऋक्सामानि यजूंषि च ।
मात्राश्चात्रचतस्रस्तु विज्ञेयाः परमार्थतः ॥ ७ ॥
तत्र युक्तश्च यो योगी तस्य सालोक्यतां व्रजेत् ।
अकारस्त्वक्षरो ज्ञेय उकारः स्वरितः स्मृतः ॥ ८ ॥
मकारस्तु प्लुतो ज्ञेयस्त्रिमात्र इति संज्ञितः ॥
अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारो भुव उच्यते ॥ ९ ॥
सव्यञ्जनो मकारश्च स्वर्लोकश्च विधीयते ।
ॐकारस्तु त्रयोलोकाः शिरस्तस्य त्रिविष्टपम् ॥ १० ॥
भुवनान्तं च तत्सर्वं ब्राह्मं तत्पदमुच्यते ।
मात्रापदं रुद्रलोको ह्यमात्रस्तु शिवं पदम् ॥ ११ ॥
एवं ध्यानविशेषेण तत्पदं समुपासते ।
तस्माद्ध्यानरतिर्नित्यममात्रं हि तदक्षरम् ॥१२॥

"गुहा के भीतर स्थानवाला एकाक्षर ब्रह्म ॐकार ही है।' ॐकार तीनों वेद, तीनों लोक और तीनों अग्नि और त्रिदेव है। यथार्थ में इसमें चार मात्राएँ जाननी चाहिये। उसमें जो योगी लग जाता है वह सालोक्यता प्राप्त करता है। अकार को अक्षर, उकार को स्वरित और मकार को प्लुत जानना चाहिये। इसीका नाम 'त्रिमात्र' है। अकार भूर्लोक, उकार भुवर्लोक और व्यञ्जन सहित मकार स्वर्लोक कहलाता है। ॐकार तीनों लोक है। उसका मस्तक त्रिविष्टप् (स्वर्ग) है। जगत् के भीतर जितनी वस्तुएँ हैं वे सभी ब्रह्मलोक कहलाती हैं। मात्रापद रुद्रलोक कहलाता है और मात्राहीन शिवस्वरूप है। इस प्रकार नाना रीति से ध्यान कर उसकी उपासना की जाती है। वह अक्षर मात्राहीन है इसलिये उसमें ध्यान में आनन्द आता है।"

ब्रह्म पुराण में ही अन्यत्र लिखा है—

त्रयोलोकास्त्रयो वेदास्त्रैलोक्यं पावकास्त्रयः ।
त्रैकाल्यं त्रीणि कर्माणि त्रयो वर्णास्त्रयो गुणाः ॥

अ० १७९, ३७

"ॐकार से तीन लोक, तीन वेद, तीन अग्नि, तीन काल, तीन कर्म, तीन वर्ण और तीन गुण का बोध होता है।"

हरिहर की स्तुति करते हुए बृहस्पति कहते हैं—

सूक्ष्मं परं ज्योतिरनन्तरूपमोंकारमात्रं प्रकृतेः परं यत् ।
चिद्रूपमानन्दमयं समस्तमेवं वदन्तीश मुमुक्षवस्त्वाम् ॥

अ० १२२, ७४

"हे ईश आप चित्, आनन्द और सूक्ष्म ज्योति स्वरूप हैं। आप प्रकृति के परे ॐकार मात्र हैं। मुमुक्षुगण आपका ऐसा ही वर्णन करते हैं।"

इसी भाव को और भी परिमार्जित वर काव्य की ललित भाषा में आचार्य पुष्पदन्त ने लिखा है—

त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि सुरान् ।
अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः ।
समस्तं व्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥

महिम्नस्तोत्रम् ॥ २७

"ॐकार के फैले हुए रूप अ, उ, म इत्यादि से तीनों वेद, तीनों वृत्ति (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) त्रिभुवन, त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का बोध होता है। किन्तु आपका इन तीन-तीन के समूहों से परे चतुर्थ स्थान है। जिसके प्रकट करने में

सूक्ष्म से सूक्ष्म ध्वनि (सङ्केत) भी लाचार हो जाती है। हे शरण देनेवाले, ॐकार शब्द आप के इन फैले हुए और एकत्रित दोनों ही रूप का वर्णन करता है।

पुराणोंमें ही यह कथा मिलती है कि एक समय शङ्खासुर नामक कोई दैत्य वेदों को चुरा कर पाताल ले गया। विष्णुने मत्स्य का रूप धारण कर उसकी हत्या की और उसकी हड्डी शङ्ख को फूका। उससे ॐकार निकला जिस से चारो वेद निकले। तात्पर्य्य यह है कि शङ्ख का शब्द ॐ शब्द का अनुकरण करता है। इसलिये पूजाकाल में उसे बजाना और जोर से ॐकार का उच्चारण कर ईश्वर की याद करना एक ही बात है। ॐकार आदि शब्द है इसलिये यह ईश्वर का सबसे उपयुक्त और वैज्ञानिक नाम है। वेदादि जो कुछ शब्द रूप से वाङ्मय जगत् में वर्त्तमान हैं वे भी स्वभावतः ॐकार से ही निकले हैं।

सारांश यह कि नाम और रूप के अन्तर्गत जगत में जो कुछ वर्त्तमान है उसका बोध कराता हुआ ॐकार सच्चिदानन्द परमब्रह्म का द्योतक सङ्केत है। हिन्दू समाज सभी माङ्गलिक कार्यों में इसका बड़ी श्रद्धा से व्यवहार करता है और योगीजन इन की उपासना करते हैं।

वैष्णवों की दो प्रधान शाखाएँ राम और कृष्ण के रूप में दर्शन के ब्रह्म की उपासना करती हैं। इनके सम्बन्ध में भी पूर्वोक्त सङ्केतों से ही काम लिया गया है।

'कृष्ण'

कृष्ण वेदान्त के ब्रह्म हैं। पीताम्बर दिक् और कालीय

नाग काल है जिसके माथे पर वे नृत्य करते हैं। कृष्ण ने भारत के बड़े बड़े सम्राटों में कितने के माथे पर मुकुट रखे और कितने के उतार दिये। ऐसे प्रबल प्रतापी के मस्तक पर सोने का मुकुट सर्वथा उपयुक्त था, पर वैसा न कर ऋषियों ने इन्हें मोरमुकुट पहनाया। इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

मोर पक्ष ये ही दरसावत
सर्प काल को काल।
श्याम ब्रह्म अस श्रुति बोलत
सो देवकि-सुत गोपाल।
याको तुम भजन करो।

काष्ठ जिह्वा स्वामी।

मयूर सर्प का भक्षक है, और सर्प काल का सङ्केत है इसलिये मोर मुकुट से यही बोध होता है कि ब्रह्म काल का भी भक्षक है। विष्णु के शङ्ख और शङ्कर के डमरू की तरह नादात्मिका वंशी ब्रह्म के उल्लास सृष्टि का चिह्न है। स्कन्द पुराण में इसे माया और ब्रह्म के उल्लास का सङ्केत माना है।

स एव सा सा सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका।

स्क० विष्णु० २.१२

"माया ब्रह्म हैं और ब्रह्म माया हैं। वंशी उनके प्रेम का सङ्केत है"

भगवान का नाम नटवर है। जिस प्रकार प्राणी मात्र अपनी शक्ति द्वारा क्रिया करता है उसी प्रकार ब्रह्म अपनी शक्ति (माया) के द्वारा जगत का आरम्भ करता है। यही उसका रास है। सीमा रहित आकाश में जो इतने बड़े-बड़े ग्रह नक्षत्र

बड़े वेग से चक्कर काट रहे हैं ये मानो उस महानृत्य में अपनी गति से ताल दे रहे हैं। स्कन्द पुराण में ही रास का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

यद्गुरुहृदय बन्धनधारी
विश्वमूर्तिरखिलांशुकहारी ।
पालनेऽपि महतां बहुदेहो
रास एष तनुमानवतान्नः ॥

स्क० त्रि० ४.१५

स्कन्द पुराण में लिखा है कि एक बार कृष्ण की स्त्रियाँ विरह से व्याकुल थीं। कालिन्दी को प्रसन्न देख कर प्रेमपूर्वक उन्होंने पूछा—"बहिन, जिस प्रकार हमलोग कृष्ण की स्त्री हैं उसी प्रकार तुम भी हो हमलोग विरह से कातर हो रही हैं। तुम क्यों न दुःखी होती ?" यह सुन कर कालिन्दी को उनपर दया आ गई। मुस्काती हुई वह बोली—

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।
तस्या दास्यप्रभावेण विरहोऽस्मान्न संस्पृशेत् ॥
तस्या एवांशविस्ताराः सर्वाः श्रीकृष्णनायिकाः ।
नित्यसम्भोग एवास्ति तस्याः साम्मुख्ययोगतः ॥
स एव सा सा सैवास्ति वंशी तत्प्रेमरूपिका ।
श्रीकृष्णनखचन्द्रालिसङ्गाच्चन्द्रावली स्मृता ॥
रूपान्तरमगृह्णाना तयोः सेवातिलालसा ।
रुक्मिण्यादिसमावेशो मयात्रैव विलोकितः ॥
युष्माकमपि कृष्णेन विरहो नैव सर्व्वतः ।
किन्तु एवं न जानीथ तस्माद्व्याकुलतामिताः ॥

एवमेवात्र गोपीनामक्रूरावसरे पुरा ।
विरहाभास एवासीदुद्धवेन समाहितः ॥

स्क० वि० २.११-१६

"परब्रह्म कृष्ण का आत्मा अवश्य ही राधिका है। उनकी सेवा के प्रभाव से हमलोगों को विरह नहीं होता है। **श्री कृष्ण को जितनी नायिकाएँ हैं वे सभी उसीके अंश हैं।** उन की कृपा से सर्वदा संयोग ही रहता है। कृष्ण (ब्रह्म) राधा (माया) हैं और राधा कृष्ण हैं। वंशी उनके प्रेमोल्लास का चिन्ह है। श्रीकृष्ण के नखचन्द्र से वे मिली रहती हैं इसलिये लोग उन्हें चन्द्रावली भी कहते हैं। इन दोनों की सेवा की लालसा से अपने रूप को विना वदले हुए ही रुक्मिणी इत्यादि यहाँ एकत्र हुई थीं। उन्हें मैंने अपनी आखोँ देखा। **आपलोगों का भी कृष्ण से जरा भी विरह नहीं है;** आपको किन्तु यह (रहस्य) मालूम नहीं है इसलिये आप व्याकुल हो रही हैं। पहिले एक वार अक्रूर के समय गोपियों को भी ऐसा ही झूठा विरह हुआ था जिसको उद्धव ने शान्त किया।"

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि गोपियाँ महामाया के नाम-रूपात्मक नाना स्वरूपों का सङ्केत मात्र हैं और यह विश्वनृत्य ही रास नृत्य है।

हृदय के काम, क्रोध, मद, मोहादि विकार ही चित्त के आवरण हैं जो जीव को परमात्मा से दूर रखते हैं। वे ही भक्तों के चीर हैं। इनका अपहरण कर भगवान भक्तों को मुक्ति प्रदान करते हैं। यह सिद्धान्त पीछे के भक्तकवि विद्यापति, कबीर, दादू-

दयाल आदि के ग्रन्थों से स्पष्ट हो जाता है और इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। †

हिन्दू गण भगवान कृष्ण के रूप में भी पूर्णब्रह्म की उपासना करते हैं।

वैष्णवानन्दागम में लिखा है—

कृष्णरूपाण्यसंख्यानि, वक्तु न शक्यानि।
तस्माद् यथेष्टरूपं कारयेत्।

कृष्ण के असंख्य रूप हैं। उन सबका वर्णन नहीं हो सकता। इसलिये अपनी इच्छा के अनुसार मूर्ति बनावे।

कृष्ण के जीवन के सम्बन्ध में बाल्य, यौवन, वीरत्व, ज्ञान, योग, वात्सल्य, दाम्पत्य इत्यादि रूप में भक्ति का समावेश किया जा सकता है। इतने भावों का और किसी रूप में समावेश नहीं हो सकता। इसलिये यह इतना जनप्रिय है

राम

भगवान रामचन्द्र की उपासना हिन्दू समाज में खूब प्रचलित है। यदि यह कहा जाय कि भगवदुपासना की और पद्धतियों से इसका प्रचार अधिक है तो इसमें शायद अत्युक्ति नहीं होगी। रामोपासना का सबसे अधिक प्रचार महात्मा तुलसीदास के द्वारा हुआ। इनकी विद्वत्ता प्रगाढ़ थी। ये बड़े भारी साधक, सिद्ध तथा सच्चे भक्त थे। हिन्दूसभ्यता के गम्भीर रहस्य से पूर्णतः परिचित थे। इसलिये इनके ग्रन्थों में प्राचीन आर्य सिद्धान्तों का परिपाक और प्रचार पूर्ण रूप से हुआ। तुलसीदास के

† इसका विशेष विवरण मेरे "विद्यापति" में देखिये। प्रकाशक रामनारायण लाल, प्रयाग।

ग्रन्थों में रासोपासना का अन्तिम अर्थात् पूर्ण परिपक्व रूप देखने में आता है।

राम ब्रह्म और रामनाम ॐकार है। रामस्तुति में इन्होंने लिखा है—

बन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।

बालकाण्ड, मङ्गलाचरण।

सबसे बड़े और अन्तिम कारण (ब्रह्म) राम नामक हरि की मैं बन्दना करता हूँ।

राम की परीक्षा लेते समय सती ने जो विश्वरूप देखा उस प्रसङ्ग में लिखा है—

जीव चराचर जे संसारा।
देखे सकल अनेक प्रकारा॥
पूजहिं प्रभुहिं देव बहु वेखा।
राम रूप दूसर नहीं देखा॥

बालकाण्ड दो० ६७

राम ब्रह्म व्यापक जगजाना।
परमानन्द परेश पुराना॥
जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू।
मायाधीश ज्ञानगुण धामू॥

बालकाण्ड दो० १२६

अगुण अखण्ड अनन्त अनादी।
जेहि चिन्तहिँ परमारथ वादी॥
नेति नेति जेहि वेद निरूपा।
चिदानन्द निरुपाधि अनूपा॥

शम्भु विरञ्चि विष्णु भगवाना।
उपजहिं जासु अंश ते नाना॥
बालकाण्ड दो० १५२

व्यापक ब्रह्म निरञ्जन निर्गुण विगत विनोद।
सो अज प्रेम सुभक्ति वश कौशल्या की गोद॥
बालकाण्ड दो० २१२

मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्म वृन्दैक देवम्।
वन्दे कुन्दावदातं सर सिज नयनम् देवमुर्वीशरूपम्॥
लङ्काकाण्ड। मङ्गलाचरण

अति उदार अवतार मनुज वपु धरे ब्रह्म अज अविनाशी।
गीतावली उत्तरकाण्ड॥३८॥

विरज विख्यात विश्वेश विश्वायतन
विश्वमर्याद व्यालादगामी।
ब्रह्म वरदेश वागीश व्यापक विमल
विपुल बलवान निर्वान स्वामी॥
प्रकृति महतत्त्व शब्दादि गन देवता,
व्योममरुदग्नि अमलाम्बु उर्वी।
बुद्धि मन इन्द्रिय प्रान चित्तातमा,
काल परमानु चिच्छक्ति गुर्वी॥
सर्वमेवात्र त्वद्रूप भूपाल मनि,
व्यक्तमव्यक्तगतभेद विष्णो॥ इत्यादि इत्यादि
विनयपत्रिका॥५४॥

राम नाम के विषय में तुलसीदास ने लिखा है:—

बन्दौं राम नाम रघुवर के,
हेतु कृशानु भानु हिमकर के।

विधि हरि हर मय वेद प्राण से,
अगम अनूपम गुण निधान से ॥

ॐकार के अ उ म का रूपान्तर ही राम के र अ म है। ये तीनों अक्षर ॐकार की तरह ही विधि, हरि और हर के द्योतक हैं। ये अगम, अनूपम, गुणनिधान हैं। इसकी विवेचना हम ॐकार के सम्बन्ध में कर चुके हैं। अब रह जाता है—कृशानु भानु और हिमकर का ॐकार के साथ सम्बन्ध।

जिस प्रकार ॐकार के तीन अक्षरोंके साथ तीन लोक, तीन काल आदि का अध्यारोप किया गया है उसी प्रकार राम नाम के तीनों अक्षरों को तुलसीदास ने तीनों दिव्यतेज सूर्य, चन्द्र और अग्नि का बोधक माना है।

सीता माया हैं। विश्वरूपदर्शन में सती ने देखा—

सती विधात्री इन्दिरा देखी अमित अनूप।
जेहि जेहि वेष अजादि सुर तेहि तेहि तनु अनुरूप ॥
बाल० दो० ५५

अवलोके रघुपति बहुतेरे, सीता सहित न वेष घनेरे।

सती ने अनेक लक्ष्मी, सती ब्रह्माणी आदि को देखा, पर सीता एक ही थी। मनु और शतरूपा के सामने राम प्रकट हुए। उस स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

वाम भाग शोभित अनुकूला।
आदिशक्ति छविनिधि जगमूला ॥
जासु अंश उपजहिं गुण खानी।
अगणित उमा रमा ब्रह्मानी ॥
भृकुटि विलास जासु जग होई।
राम वाम दिसि सीता सोई ॥

इससे स्पष्ट है कि सीता आदिशक्ति हैं और लक्ष्मी आदि की भी सृष्टि करनेवाली हैं। अयोध्या काण्ड में वाल्मीकि की उक्ति से इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। वे कहते हैं:—

श्रुतिसेतुपालक राम तुम जगदीश माया जानकी।
जो सृजति पालति हरति पुनि रुख पाइ कृपानिधान की॥
अयो० छ० ५

फिर अरण्यकाण्ड में लिखा है:—

जो सिय सकल लोक सुखदाता।
अखिल लोक ब्रह्माण्ड कि माता॥

इन पंक्तियों से हृदय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सीता वेदान्त के ब्रह्म की वृत्ति वा माया हैं।

कटिवस्त्र पीताम्बर दिक् है। जिन देवताओं की कथा और स्वरूप के साथ सर्प का किसी प्रकार का सम्बन्ध है उनके साथ काल का सर्परूप में सन्निवेश कर देना आसान है, पर राम के साथ सर्प का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये इनकी मूर्ति के साथ महानाग की तरह भयङ्कर धनुष वाण ही काल का बोधक है। लङ्काकाण्ड के मङ्गलाचरण में ही लिखा है:—

लव निमेष परिमाण युग,
वर्ष कल्प शरचण्ड।
भजसि न मन तेहि राम कहँ,
काल जासु कोदण्ड॥ दो० १।
लं० मङ्गलाचरण।

लक्ष्मण जीव हैं। वाल काण्ड में लिखा है:—

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके ।
राम लखन सम प्रिय तुलसीके ॥
वरणत वरण प्रीति विलगाती ।
ब्रह्म जीव सम सहज संघाती ॥
नर नारायण सरिस सुभ्राता ।
जगपालक विशेष जनत्राता ॥

राम-लखन को ब्रह्म-जीव वा नर-नारायण जो कहा जाय उसमें कोई विभेद नहीं है। केवल एक ही बात दो प्रकार से कही जाती है। अयोध्याकाण्ड में यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। राम लक्ष्मण और सीता वन जा रहे हैं।

आगे राम लखन पुनि पाछे ।
तापस वेष विराजत काछे ॥
उभय बीच सिय सोहत कैसी ।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसी ॥

हनुमान साधक, भरत सिद्ध और रावण अहङ्कार वा मोह है। इस प्रकार राम के रूप में भी हिन्दू जाति किसी राजकुमार की पूजा न कर एक मात्र विशुद्धपूर्ण ब्रह्म की उपासना करती है।

अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो ।
मायापति सोइ राम, दास हेतु नर तनु धरेउ ॥

वैराग्य सन्दीपिनी ॥४॥

हम पहिले ही कह चुके हैं कि ब्रह्मा तथा विष्णु और शङ्कर आदि हिन्दुओं के आराध्य स्वरूप में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म को विष्णु मान कर उनको राम कहना ठीक ही है, पर जो लोग त्रिदेव की कल्पना कर राम को विष्णु का अवतार मानते हैं और

इन्हें शङ्कर आदि से भिन्न समझते हैं वे बड़ी भूल करते हैं। तुलसीदास की पंक्तियों से ही विदित है कि त्रिदेव राम (ब्रह्म) के अन्तर्गत हैं और लक्ष्मी आदि त्रिदेवियाँ सीता (माया) का अंश मात्र हैं। अयोध्याकाण्ड में वाल्मीकि श्रीराम की स्तुति करते हैं

जग पेखन तुम देखन हारे।
विधि हरि शम्भु नचावनि हारे॥
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा।
और तुम्हें को जाननि हारा॥

यदि राम विष्णु के अवतार हैं तो फिर हरि के नचाने वाले में कैसे हुए। लङ्काकाण्ड में लिखा है:—

शारद कोटि अमित चतुराई।
विधि शत कोटि अमित निपुणाई॥
विष्णु कोटि शत पालन कर्त्ता।
रुद्र कोटि शत सम संहर्त्ता॥

यहाँ राम शत कोटि विष्णु के समान पालन करने वाले बताये गये हैं। तुलसीदास के ग्रन्थों में ऐसी भावना सर्वत्र भरी पड़ी हैं।

राम के विरोधे बुरो विधि हरि हर हू को।

कवितावली ॥८॥

हनुमान की प्रशंसा में—

सजल विलोचन विरंचि हरि हर के।

हनुमान बाहुक ॥२३॥

हनुमान वाहुक के ४२ वें छन्द में अपने भाव को इन्होंने और भी स्पष्ट कर दिया है—

मेरे मन मान है न हर को न हरि को।

चित्रकूट में रामचन्द्र को देख कर—

तुलसी सुख लाहु लूटत किरात कोल,
जाको सिसकत सुरविधि हरि हर हैं ॥

गीतावली बाल० पद ॥४५॥

विधि से करनि हार, हरि से पालनि हार,
हर से हरनि हार जपें जाके नामें ॥

गी० सु० ॥२५॥

विभीषण के राज्याभिषेक के समय—

विधि हरि हर मुनि सिद्ध सराहत।
मुदित देव दुंदुभी दई ॥

गा सु० ॥२८॥

अब चित चेति चित्रकूटहिं चलु।
जहँ जनमे जग जनक जगतपति।
विधि हरि हर परिहरि प्रपञ्च छलु ॥

वि० प० ॥२४॥

अन्तिम सिद्धान्त स्वरूप इनकी पङ्क्तियाँ हैं:—

हरिहिं हरिता विधिहिं विधिता
सिवहिं सिवता जो दई ॥
सोइ जानकी पति मधुर मूरति
मोदमय मङ्गल मई ॥

वि० प० ॥१३५॥

यही कारण है कि ये राम, शिव और कृष्ण में कोई अन्तर

नहीं समझते। अपने सभी ग्रन्थों में इन्होंने राम और शिव का एकत्व प्रतिपादित किया है। इस विषय में इनका यही सिद्धान्त रहा है कि—

विष्णु जो सुरहित नरतनु धारी।
सोउ सर्वज्ञ यथा त्रिपुरारी॥

तुलसीदास श्रीकृष्ण के स्वरूप को पूर्ण ब्रह्म का सङ्केत मानते हैं। विनयपत्रिका के ५४ वें पद में इन्होंने लिखा है।

भूमि भर भार हर प्रगट परमातमा
ब्रह्म नररूप धर भक्त हेतू।
कृष्ण कुल कुमुद राकेस राधारमन
कंस वंसाटवी धूम केतू॥

इसलिये ये राम और कृष्ण में कोई भेद नहीं समझते। राम कृष्ण का अभेद इनके ग्रन्थोंसे प्रतिपादित होता है। रामका वर्णन करते करते ये कृष्ण का और कृष्ण का वर्णन करते-करते राम का वर्णन करने लगते हैं। विनयपत्रिका के ४९ वें पद की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं:—

दनुज वन दहन, गुन गहन, गोविन्द,
नन्दादि आनन्द दाताऽविनासी।

× × × ×

नीलजलदाभ तनु स्याम बहु काम छवि
राम राजीव लोचन कृपाला।
कृष्ण करुणा भवन, दवन कालीय खल
विपुल कंसादि निर्वंस कारी॥

छिन बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति बाँध्यो हठि सकत न छोरी।

वि० प० ॥९८॥

महाराजरामादर्यो धन्य सोई

× × × ×

कौन धौं सोमयागी अजामिल अधम ?
कौन गजराज धौं बाजपेयी ?
पांडु सुत गोपिका विदुर कुबरी सबहि
सोध किये सुद्धता लेस कैसो ?
प्रेम लखि कृष्ण किये अपने तिनहुँ को
सुजस संसार हरि हर को जैसो ॥

वि० प० ॥१०६

माधव मोह फाँस क्यों टूटै ?

वि० प० ॥११५॥

माधव अस तुम्हरि यह माया

वि० प० ॥११६॥

जनसाधारण के हृदय में यह भावना रहती है कि विनय-पत्रिका में केवल रामस्तुति है, पर उपर्युक्त पंक्तियों से यह भ्रम दूर हो जाता है। जिन्होंने प्रचार किया कि:—

मुरली मुकुट दुराय के नाथ भये रघुनाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुप बान लियो हाथ ॥

वे अवश्य कोई अर्द्ध शिक्षित भ्रान्त भक्त होंगे। ऐसी उक्तियाँ तुलसी दास के सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

गणेश

गणेश शङ्कररूप ब्रह्म के आकाश वाले रूप हैं। दिक् का अनन्त विस्तार ही उनके विशाल उदर द्वारा अपेक्षित है। उनके उदर के असंख्य मोदक आकाश वा दिक् के भीतर रहने वाले नाना जाति के असंख्य प्राणी हैं। किन्तु पद्मपुराण में लिखा है कि मोदक महाबुद्धि का सङ्केत है।

कामदेव

संसार में इन्द्रियों द्वारा जिन संवेदनाओं का उपभोग किया जाता है उनमें कामजन्य सबसे अधिक प्रबल है। इसमें प्राणियों की बहुत आसक्ति रहती है। सांसारिक किसी विशेष अवस्था वा आसक्ति के कारण जो लोग इससे भिन्न होकर भगवान की ओर अग्रसर नहीं हो सकते उनके लिये भी ऋषियोंने प्रशस्त मार्ग बना रखा था। इस मार्ग का सिद्धान्त यह था कि संसार में जितनी संवेदनाएँ हैं वे विश्वव्यापी ब्रह्म की विशाल संवेदनाओं की कणिका मात्र हैं। प्राणियों की कामवेदना विश्वके विशाल वेदनाप्रवाह का अणुमात्र है। जिसके अणुमात्रसे लोगोंको इतना आनन्द मिलता है उसका कारण ब्रह्म कैसा आनन्दमय होगा इसका अनुमान किया जा सकता है। इसलिये कामदेव के रूप में जगत् में अवस्थित विष्णु की आराधना करनी चाहिये। मत्स्यपुराण में मदनद्वादशी के प्रसङ्ग में लिखा है:—

कामनाम्ना हरेर्चां स्नपयेद्गन्धवारिणा
शुक्लपुष्पाक्षततिलैरर्चयेन्मधुसूदनम्॥

प्रीयतामत्र भगवान् कामरूपी जनार्दनः ।
हृदये सर्वभूतानां य आनन्दोऽभिधीयते ॥
मत्स्य० ७,१५,१६

काम नामक भगवान विष्णु की आराधना करे। उन्हें सुगन्धित जलसे स्नान करावे। उजले फूल, अक्षत और तिल से मधुसूदन की अर्चा करे। अब भगवान् काम रूपधारी विष्णु प्रसन्न हों। वे ही सभी जीवों के हृदय में आनन्द का निवास करते हैं।

यः स्मरः संस्मृतो विष्णुरानन्दात्मा महेश्वरः ।
सुखार्थी काम रूपेण स्मरेदङ्गजमीश्वरम् ॥
मत्स्य० ७२.८

सबके स्वामी और आनन्द के प्राण जो विष्णु कामदेव समझे जाते हैं, सुख का चाहने वाला पुरुष काम रूप में अपने अङ्ग से ही उत्पन्न उस ब्रह्म की आराधना करे। वेश्याओं को भी आनङ्गदानव्रत का आदेश किया गया है, और वेश्या धर्मवर्णन के प्रसङ्ग में कहा गया है कि—

कामदेव सपत्नीकं गुडकुम्भो परिस्थितम् ।
ताम्रपात्रासनगतं हैमनेत्रपटावृतम् ॥
सकांस्य भाजनोपेतमिक्षुदण्डसमन्वितम् ।
दद्यादेतेन मन्त्रेण तथैकां गां पयस्विनीम् ॥
यथान्तरं न पश्यामि कामकेशवयोः सदा ।
तथैव सर्वकमाप्तिरस्तु विष्णोः सदा मम ॥
यथा न कमला देहात् प्रयाति तव केशव ।
तथा मामापि देवेश शरीरं स्वीकुरु प्रभो ॥
मत्स्य ७०.५०-५२

"गुडकुम्भ के ऊपर काम और उसकी स्त्री को ताम्रपात्र में रख कर और सोने के कपड़े से ढाँक कर एक गाय, काँसे के वर्तन और इक्षुदण्ड समेत दान कर दे और कहे कि काम और केशव में मैं कोई अन्तर नहीं देखती, इसलिये मेरे विष्णु की इच्छाएँ सदा पूर्ण हों। हे केशव, जिस प्रकार कमला आप के शरीर से अलग नहीं होतीं उसी प्रकार आप मेरे भी शरीर को स्वीकार करें।"

यह पतिभाव से ईश्वराराधन का स्वरूप है। जगन्नाथ की मूर्तियाँ विभत्स कही जाती हैं। उनके अन्तर्गत रहस्य भी इस सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाते हैं।

विष्णु धर्मोत्तर में काम की मूर्ति की कल्पना इस प्रकार की गई है—

कामदेवस्तु कर्तव्यो रूपेणाप्रतिमो भुवि।
अष्टबाहुः प्रकर्त्तव्यश्शङ्खपद्मविभूषणः॥
चापबाणकरश्चैव मदोदञ्चितलोचनः।
रतिः प्रीतिस्तथा शक्तिर्मदशक्तिस्तथोज्ज्वला॥
चतस्रस्तस्य कर्त्तव्याः पत्न्यो रूपमनोहराः।
चत्वारश्च करास्तस्य कार्या भार्यास्तनोपगाः॥
केतुश्च मकरः कार्यः पञ्च बाण मुखो महान।

कामदेव की आठ भुजाओं वाली बहुत ही सुन्दर मूर्ति बनानी चाहिये। आँखों में मदभरा हो और हाथों में शङ्ख पद्म, धनुष और बाण हो। रति, प्रीति, शक्ति और मदशक्ति ये चार इसकी बड़ी ही सुन्दर स्त्रियाँ हों। उसके चार हाथ स्त्रियों के शरीर पर रहें। इसकी ध्वजा में मकर हो और बड़े बड़े पाँच

बाण लगे हों। शिल्परत्न में लिखा है कि प्रीति (love) और रति (passion) नाम की इसकी दो स्त्रियाँ मूर्ति के साथ रहें।

प्रीतिर्दक्षिण भागेऽस्य भोजनोपस्करान्विता।
वामभागे रतिः कार्यारन्तुकामा निरन्तरम्॥
शिल्प रत्न।

कल्पित रूपों का प्रयोजन

इतनी चर्चा करने के उपरान्त प्रश्न उठता है कि इतना प्रपञ्च करने का क्या प्रयोजन है? विना इन मूर्तियों के भी केवल वेदान्तिक ब्रह्म की उपासना हो सकती थी। विना किसी अवलम्ब के उपासना मार्ग में आगे बढ़ना कठिन है। सबके लिये यह सुगम मार्ग नहीं है। इन मूर्तियों द्वारा कौन प्रयोजन सिद्ध होता है और किस प्रकार सिद्धि प्राप्त होती है, इसके विषय में विष्णु पुराण में लिखा है—

शुभाश्रयः स्वचित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः।
त्रिभावभावनातीतो मुक्तये, योगिनां नृप॥
अन्ये च पुरुषव्याघ्र चेतसो ये व्यपाश्रयाः।
अशुद्धास्ते समस्तास्तु देवाद्याः कर्मयोनयः॥
मूर्त्तं भगवतो रूपं सर्वापश्रयनिस्पृहम्।
एषां वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते॥
तच्च मूर्त्तं हरे रूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप।
कल्पनारम्भ तच्छ्रूयतामनाधारे धारणानोपपद्यते
प्रसन्नचार वदनं पद्मपत्रोपमेक्षणम्।
सुकपोलं सुविस्तीर्णललाटफलकोज्ज्वलम्॥
समकर्णान्तविन्यस्तचारुकर्णविभूषणम्।
कम्बुग्रीवं सुविस्तीर्णश्रीवत्साङ्कितवक्षसम्॥

वलीत्रिभङ्गिना मग्ननाभिना चोदरेण वै ।
प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम् ॥
समस्थितोरुजङ्घञ्च सुस्थिरांघ्रिकराम्बुजम् ॥
चिन्तयेद्ब्रह्मभूतं च पीतनिर्मलवाससम् ।
किरीटचारुकेयूरकटकादिविभूषितम् ।
शार्ङ्गशङ्खगदाखड्गचक्राक्षवलयान्वितम् ॥
चिन्तयेत्तन्मना योगी समाधायात्ममानसम् ।
तावद्यावद् दृढीभूता तत्रैव नृपधारणा ॥
व्रजतस्तिष्ठतोऽन्यद्वा स्वेच्छया कर्मकुर्वतः ।
नापयाति यदा चित्तात् सिद्धां मन्येत तां तदा ॥
ततः शङ्खगदाचक्रशार्ङ्गादिरहितं बुधः ।
चिन्तयेद्भगवद्रूपं प्रशान्तं साक्षसूत्रकम् ॥
सा यदा धारणा तद्वदवस्थानवती ततः ।
किरीटकेयूरमुखै भूषणैरहितं स्मरेत् ॥
तदेकावयवं देवं चेतसा हि पुनर्बुधः ।
कुर्य्यात्ततोऽवयविनि प्रणिधानपरो भवेत् ॥
तद्रूपप्रत्ययैका सन्ततिश्चान्य निस्पृहा ।
तद्ध्यानं परमं रङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥
तस्यैवकल्पनाहीनं स्वरूप ग्रहणं हि यत् ।
मनसा ध्याननिष्पाद्य. समाधिः सोऽभिधीयते ॥

विष्णुपुराण अंश ६, अध्याय ७, श्लोक ७५-९०

"हे राजन्, सर्वत्रगामी अपने चित्त और आत्माके लिये तीनों गुणों की भावनाओं से दूर कोई अच्छा। अवलम्बन योगी को

मुक्ति प्रदान करता है। हे पुरुष व्याघ्र, चित्त के आधार पर कल्पित जो देवता इत्यादि की योनि हैं वे सबकी सब अशुद्ध हैं। दुर्भावनाओं से रहित भगवान के रूप में मन लग जाने को धारणा कहते हैं। हे नराधिप, भगवान के उस रूप की जिस प्रकार चिन्ता करनी चाहिये, उसे सुनिये। आधार रहित वस्तु में धारणा उत्पन्न नहीं हो सकती। योगी विष्णु के इस स्वरूप का ध्यान करे। हँसता हुआ सुन्दर मुख हो, आँखें कमल की ऐसी हों, कपोल सुन्दर हों, उज्ज्वल और विस्तृत ललाट हो, सुन्दर आभूषणवाले एक से कान हों, ग्रीवा शङ्ख के समान हो, चौड़ी छाती पर भृगुलता का चिन्ह हो, त्रिवलीयुक्त उदर पर गम्भीर नाभि हो, भुजाएँ चार अथवा आठ हों, उरु और जङ्घा सुडौल हों, हाथ और पैर मजबूत हों, वस्त्र नीले वा पीले रङ्ग का हो। इस प्रकार मूर्त्त ब्रह्म का ध्यान करे। किरीट, सुन्दर केयूर, कटक इत्यादि से विभूषित, शार्ङ्ग, शङ्ख, गदा, खड्ग, चक्र, माला, कङ्कण आदि से समन्वित मूर्ति में योगी तन्मय होकर तब तक ध्यान करे जब तक धारणा दृढ़ न हो जाय। चलते, बैठते या स्वेच्छापूर्वक कर्म करते हुए चित्त से यदि वह रूप न जाय तो धारणा को सिद्ध समझना चाहिये। इसके बाद चतुर साधक अक्ष, सूत्रवाले भगवान के रूपका ध्यान करे जो शङ्ख चक्र, गदा, शार्ङ्ग आदि से रहित हो।

यह धारणा जब स्थिर हो जाय तो किरीट केयूर आदि आभूषणों से भी रहित मूर्ति का स्मरण करे। फिर केवल एक अवयववाले रूप में तल्लीन होने की चेष्टा करे। इसके बाद कल्पना से रहित उनके रूपका ग्रहण कर मनके द्वारा ध्यान जमाना ही समाधि कहलाता है।"

दर्शन की प्रौढोक्ति से सिद्ध और अनुभवगम्य अमूर्त ब्रह्म की कल्पित नानामूर्ति द्वारा मनीषिगण ईश्वर की ओर क्रमशः अग्रसर होते हैं। इसके बिना दूसरा उपाय असम्भव है। यही इन कल्पनाओं की आवश्यकता और उपयोगिता है।

वेदान्त का यह अद्वैत सिद्धान्त सर्वत्र पाया जाता है। हिन्दू संस्कृति के प्रतिनिधि स्वरूप संस्कृत और हिन्दी के सभी बड़े बड़े लेखक इन सिद्धान्तों से परिचित थे। संस्कृत साहित्य के सर्व श्रेष्ठ कवि कालिदास ने माया और ब्रह्म का वर्णन रघुवंश के आरम्भ में किया है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ॥

रघु० १.१.

ब्रह्म की नजर आनेवाली आठ मूर्तियोंका वर्णन इन्होंने शाकुन्तला के आरम्भ में किया है। ये आठ मूर्तियाँ पञ्चतत्त्व, सूर्य, चन्द्र और यजमान हैं। पञ्चतत्त्व ब्रह्म के स्थूलातिस्थूल रूप हैं, इसलिये चर्मचक्षु से भी देखे जा सकते हैं। इस सारिणी पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।
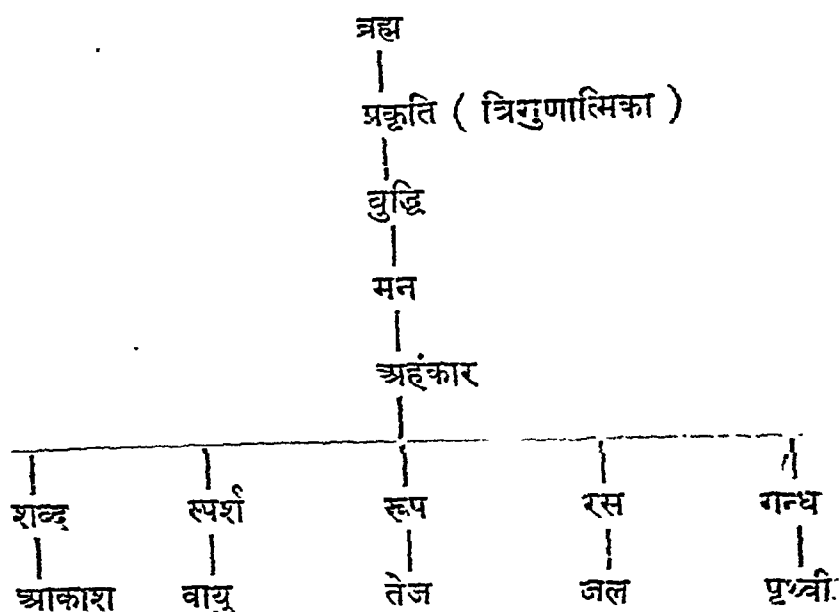
कुमारसम्भव की ब्रह्म स्तुति में इन्होंने लिखा है—

नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यंप्राक्सृष्टेः केवलात्मने ।
गुणत्रयविभागाय पश्चाद्भेदमुपेयुषे ॥
तिसृभिस्त्वमवस्थाभिर्महिमानमुदीरयन् ।
प्रलयस्थितिसर्गाणामेकः कारणतां गतः ॥

कुमार० सर्ग २.४,६

"हे त्रिमूर्त्ति, आपको नमस्कार। सृष्टि के पहिले आप एक ही थे। तीनों गुणके भेदके कारण आपमें भी पीछे भेद हुआ। तीन अवस्थाओं के द्वारा आप अपनी महिमाको प्रकट करते हुए सृष्टि, स्थिति और प्रलय के आप कारण बने।"

मैथिल कवि विद्यापति भी इन सिद्धान्तों से पूर्णतः परिचित थे। इन्होंने लिखा है—

भल हरि भल हर भल तुअ कला ।
खन पित वसन खनहिँ बघछला ।
खन पञ्चानन खन भुज चारि ।
खन शङ्कर खन देव मुरारि । इत्यादि

आर्य परम्परा के अनुसार ये इस सिद्धान्त के पूरे अनुगामी थे कि—

उभयोः प्रकृतिस्त्वेका ।
प्रत्यय भेदाद्विभिन्नवद्भाति ॥
कलयति कश्चिन्मूढो ।
हरिहर भेदं विना शास्त्रम् ॥

दोनों की उत्पत्ति का स्थान (सिद्धान्त) एक ही है। केवल प्रत्यय (प्रत्यक्ष स्वरूप) में भिन्नता के कारण ये विभिन्न मालूम पड़ते हैं। शास्त्रज्ञान रहित कोई मूढ़ पुरुष ही हरि और हर में भेद समझता है। देवी के विषय में इन्होंने लिखा है—

विदिता देवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती ।
एकानेक सहस को धारिनि अरिरंगा पुरनन्ती ॥
कजल रूप तुअ कालिय कहियउ उजल रूप तुअ बानी ।
रवि मण्डल परचंडा कहिये गंगा कहिये पानी ॥
ब्रह्मा घर ब्रह्मानी कहिये हर घर कहिये गौरी ।
नारायन घर कमला कहिये के जान उतपति तोरी ॥

इस पद से विद्यापति का मातृब्रह्म वाला भाव स्पष्ट हो जाता है

कबीर दास ने भी लिखा है—

ब्रह्मा विष्णु महेस न सेसवा ।
आदि न अन्त न काल कलेसवा ॥

योगी न जंगम मुनि दरवेसवा ।
दास कबीर लै आयो संदेसवा ॥

इन पंक्तियों में कबीर दास ने राम वा ब्रह्म को त्रिदेव से बड़ा माना है। इन पंक्तियों को देख कर हिन्दू संस्कृति में फैले हुए ब्रह्म के सिद्धान्त और स्वरूप के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

राम और कृष्ण के सम्बन्ध में उपर्युक्त वर्णन को पढ़कर किसी के हृदय में यह सन्देह नहीं होना चाहिये कि ये केवल काल्पनिक पुरुष थे, ऐतिहासिक नहीं। प्राचीन साहित्य के अध्ययन से ही पता लगता है कि राम और कृष्ण ऐतिहासिक पुरुष थे। लोक-कल्याणकारी महापुरुष होने के कारण लोग इनकी श्रद्धा करते थे और वीर पूजा के आवेश में इनके नाम पर उत्सव मनाया करते थे। बहुत समय बीतने पर जब इन उत्सवों ने उपासना का रूप धारण कर लिया तो ऋषियों ने जनता को मनुष्योपासना के पाप से बचाने के लिये इन नामों के साथ ईश्वरत्व का भाव जोड़ दिया और कालान्तर में दार्शनिक सिद्धान्तों की युक्ति से इन्हें पूर्ण ब्रह्म बना कर इनकी निर्दोष उपासना का प्रचार किया, जिसके स्वरूप और प्रणाली की हम विवेचना कर चुके हैं। गीता के कृष्ण विशुद्ध ज्ञान स्वरूप पूर्ण ब्रह्म हैं जो अर्जुन के रूप में जीवमात्र को गीता के सिद्धान्तों का अनुसरण करने का आदेश प्रदान करते हैं। अन्यथा भगवान की ऐसी उक्तियों का समझ में आना कठिन हो जाता है कि एक मित्र क्यों कर दूसरे मित्र को कहेगा कि—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥

गीता । ९.३४

मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे ही नाम पर यज्ञ कर, मुझे ही प्रणाम कर इस प्रकार अपने को मुझमें लगाकर मुझे प्राप्त करेगा।

भगवान रामचन्द्र ने भी लक्ष्मण, नारद आदि को ऐसे ही उपदेश दिये हैं और इसकी व्याख्या यही है कि—

जानहिं यह चरित्र मुनि ज्ञानी।
जिन रघुवीर चरण रति मानी॥
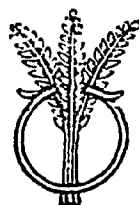
इतिहास खण्ड

इतिहास खण्ड

इस समय भारतवर्षका सर्वप्रधान समाज हिन्दू-समाज है। इसका एक बहुत बड़ा अंश यद्यपि मुसलमान और क्रिस्तान हो गया है, पर उसका भी हिन्दू-संस्कार दूर नहीं हो सका। हिन्दू-समाजमें भी अनेक सम्प्रदाय और फिरके देखे जाते हैं पर सबकी अन्तर्गत संस्कृति की धारा एक ही है; अनेकत्व के रहते हुए भी वे एक हैं।

इस समय जिस सम्प्रदाय वा फिरके पर हम नज़र डालते हैं उसपर वैदिक सभ्यता और संस्कृति की छाप पाते हैं। वेद और वैदिकता के बिना हिन्दू-समाज का अनुमान ही नहीं किया जा सकता है। पर इस वैदिकता के साम्राज्य के स्थापित होने में भी अनेक समय लगा होगा और भिन्न भिन्न युग में इसके अनेक रूप रहे होंगे।

आधुनिक मनीषिगण यह सिद्धान्त स्थिर कर चुके हैं कि वैदिकआर्य बाहर से भारतवर्ष में आये। जब तक इस सिद्धान्त के विरुद्ध कोई अकाट्य प्रमाण नहीं मिलता तब तक इसके विरुद्ध क्लिष्ट कल्पना करने की कोई आवश्यकता हमें मालूम नहीं पड़ती।

यह भी पण्डितों का अनुमान है कि वैदिक आर्यो के भारत में आगमन के पहिले यहाँ अनेक प्रकार के अनार्यों का निवास था। इनकी किसी-किसी शाखा के पुरुष लम्बे, तगड़े, सुडौल शरीर

वाले और वड़े ही सभ्य थे। रामायण और पुराणों के पढ़ने वाले विद्वानों का कथन है कि रावण, सुग्रीव, बाली, नल, नील, जामवन्त, हनुमान, घटोत्कच, मय, वलि आदि महा पराक्रमी तथा विद्वान और कलाकुशल वीरगण इसी जाति के थे। रावण, जामवन्त तथा हनुमान वीर होने के साथ ही साथ वड़े विद्वान थे। हनुमान तो वेद के साङ्गोपाङ्ग ज्ञाता बताये जाते हैं। नल, नील और मय वड़े कुशल कलावित् थे। उनने क्रमशः रामेश्वर के पुल तथा युधिष्ठिर की सभा बनाई थी। ये दोनों कार्य दिव्य और आश्चर्यजनक थे। एक के कारण लङ्का के समान मजबूत गढ़ टूटा और दूसरे ने दुर्योधन के मन में स्थल के स्थान में जल और जल के स्थान में स्थल का भ्रम उत्पन्न कर दिया। मृत सञ्जीवनी विद्या शुक्राचार्य ने कच को सिखलाई। यह विद्या आर्यों को नहीं अनार्यों को ही मालूम थी। इस प्रकार की एक नहीं अनेकों कथाएँ संस्कृत के प्राचीन साहित्य में भरी पड़ी हैं। वलि के ऐसे ठोस चरित्र के आदमी आर्य कथानकों में भी कम पाये जाते हैं। पौराणिक ग्रंथों से ही यह स्पष्ट मालूम होता है कि आर्यों के मित्र या अमित्र अनार्यगण वड़े ही सभ्य और समुन्नत थे। उनका भी अपना धर्म और अपनी सभ्यता थी, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। इसकी पुष्टि आवेस्ता आदि ग्रंथों और सिन्ध की खुदाई से भी होती है।

यह अवश्यम्भावी है कि जिस समय आर्यगण यहाँ आये उस समय कुछ दिनों तक तो ये लड़ते-भिड़ते रहे, पर पीछे स्थिर हो जाने पर यहाँके पूर्व निवासियों से हिलने-मिलने लगे और आचार-विचार तथा रहन-सहन का पारस्परिक आदान-प्रदान होने

लगा। आर्य विजेतागण विजेता तथा बड़ी मस्तिष्क शक्ति वाले थे। अपनी संस्कृति और सभ्यता का उन्हें पूरा गर्व था। किसीको अपना बराबर समझ कर उनसे हिलना-मिलना इन्हें बुरा लगता था। किसी दूसरे के आचार-विचार को अपनेमें शामिल कर लेना मानो अपनेको भ्रष्ट बनाना था। किन्तु बराबर हिलते-मिलते रहने के कारण दूसरों की भावना और आचार का अपने समाज में मिल जाना भी रुक नहीं सकता था। यहाँतक कि इन अनार्यों से विवाह का सम्बन्ध भी होना आरम्भ हो गया था। यह दो कारणों से हो सकता था। (१) समाज के फैल जाने के कारण अपने युवकों का यथोचित नियन्त्रण नहीं हो सकता था या (२) विजेताओं में स्त्रियों की कमी थी; इसलिये विजितों की कन्या ग्रहणकर अपनी जाति के विस्तार को बढ़ाना इनके लिये आवश्यक था। इस विषय में दूसरा कारण ही अधिक सम्भव था। आर्यों की जाति संगठन क्षमता अद्भुत थी। इसका प्रमाण आज भी जाति विभाग में पाया जाता है। ऐसी हालत में इस विषय में दूसरा कारण ही अधिक सम्भव मालूम पड़ता है। इसलिये मनुस्मृति में ब्राह्मणादि को इतर वर्णों की कन्या से विवाह करने की आज्ञा दी गई है पर कुछ शताब्दियों बाद जब कन्याओं की संख्या यथेष्ट हो गई तो याज्ञवल्क्य में इसका विरोध किया गया है और इस नियम को इस प्रकार कर दिया गया कि इसने आज विचित्र रूप धारण कर लिया है; एक ब्राह्मण (मैथिल, कान्यकुब्जादि) भी ब्राह्मण की कन्या से विवाह नहीं कर सकता। "स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि" इस का जनप्रवाद के रूप में प्रचार होने पर भी यह असम्भव हो गया। जो हो, जिस समय

नवागत आर्यगण अनार्यों के साथ हिल-मिल रहे थे उस समय उन्हें दो बातों की चिन्ता हुई। १. किस प्रकार अपनी सभ्यता, संस्कृति और साहित्यादि को अछूता, पवित्र, तथा पूर्वावस्था में ज्यों का त्यों रखा जाय। २. किस प्रकार अनार्यों में यथोचित सुधार कर उन के आचार विचार विशुद्ध तथा परिमार्जित बनाये जायँ। इस प्रकार समुचित संस्कारके बाद उन्हें भी समाजमें उचित स्थान देकर वैदिक सभ्यताका अनुगामी बनाया जाय और इस प्रकार अपनी स्थितिको मजबूत तथा चिरस्थायी बनाया जाय।

इस चिन्ता प्रवाह की दो धाराएँ प्राचीन तथा अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के विद्यार्थियों को साफ-साफ दिखलाई पड़ती है। प्रथम शुद्ध वैदिक और द्वितीय अनार्यमिश्रित वैदिक अर्थात् पौराणिकादि। शुद्ध वैदिक संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, और व्याकरणादि शास्त्र हैं, और मिश्रित वैदिक में पुराण, इतिहास, धर्मशास्त्र और काव्यादि ग्रन्थ हैं जिनमें वैदिक और अवैदिक अर्थात् आर्य और अनार्य सभ्यता का सम्मिश्रण तथा संघर्ष सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है।

आर्यों की जो अपनी सम्पत्ति है वह वेद में पाई जाती है। वेद के बाहर की जो वस्तुएँ आर्य सभ्यता या हिन्दू-समाज में वर्तमान हैं वे अनार्यों से ली गई हैं। जैसे सर्प-पूजा या लिङ्ग-योनि-पूजा। इन वस्तुओं के लेने का उद्देश्य महान् और ढंग निराला था। यह उद्देश्य इतना महत्त्वपूर्ण था कि इसके सुदूरव्यापी परिणाम को देखकर हृदय मुग्ध हो जाता है और अपने आत्म-बल, जातिबल और राष्ट्रबल को आज भी हम अपने रोम रोम में अनुभव कर पुलकित हो जाते हैं। ऋषियों ने देखा कि जो

उनकी मातृभूमि † है उसमें अनेक जाति धर्म और फिरके हैं। जब तक उनका मजबूत संगठन न किया जाय तबतक राष्ट्र प्रबल नहीं हो सकता है और न इसका अस्तित्व ही स्थिर और चिर-स्थायी हो सकता है। यदि राष्ट्र असंगठित रह गया और अनेक छोटी-छोटी जाति तथा अनेक सभ्यता और संस्कृति वाले लोगोंमें टुकड़े-टुकड़े रहा तो जो जाति बाहर से आयगी वही इसपर अपना अधिकार कर बैठेगी। यदि बाहर से कोई जाति नहीं भी आई तो भी भीतर इतने झगड़े होते रहेंगे और इतनी अशान्ति बनी रहेगी कि विद्या-बुद्धि तथा कलाकौशल की उन्नति होना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य हो जायगा। इसलिये अपने प्रिय कर्मभूमि भारत की सभी जातियों में सामञ्जस्य उत्पन्न कर उन्हें एकता के सूत्र में बांध कर उनने इसे हिमगिरि की तरह अचल और अटल बना दिया। इसमें उनका यही सिद्धान्त रहा कि "कृण्वन्तु विश्व आर्यम्" "सबको आर्यसभ्यता के भीतर ले लो।" आर्यसभ्यता को मूलाधार बनाकर इन्होंने सर्प-पूजक, लिङ्ग-पूजक, भूतप्रेतादि-पूजक सभी जातियों की भावनाओं को विशुद्ध रूप देकर अपनेमें मिला लिया। यह काम पुराणों के द्वारा किया गया। इसलिये कहा गया है कि पुराण स्त्रियों और शूद्रों के लिये है, विद्वान द्विजों के लिये नहीं; क्योंकि विद्वान द्विजों को वैदिक सभ्यता का विशुद्ध रूप वैदिक साहित्यमें मिलता था। जिन्हें वैदिक वस्तुओं का

† ब्रह्म पुराण में मातृभूमि की परिभाषा यों लिखी है—

वैदिकी पुण्यगाथास्ति यां वै वेदविदो विदुः।
भूमिं सस्यवतीं कश्चिन्मातरं मातृसम्मिताम्॥ ब्रह्म० १२१.२

अधिकार नहीं देना था वरन् केवल वैदिक सभ्यता के रङ्ग में रंग देना था जिसमें वे कुमार्गगामी और पतित न हों किन्तु आर्यों से सहानुभूति रखने वाले उनके पक्के मित्र बन जायँ, उनके लिये पौराणिक साहित्य की आवश्यकता थी। सभी मतों और जातियों के सम्मिश्रण और मजबूत संगठन की यह क्रिया इतनी विचित्र अद्भुत और सुन्दर हुई है कि इसपर जितना ही विचार किया जाय उतनी ही अधिक वार वार प्रशंसा करने की लालसा होती है। इस क्रिया के इतिहास की चर्चा हम आगे चल कर करेंगे।

पौराणिक साहित्य के द्वारा एक और कठिन काम आसान बना दिया गया, जिससे सम्पूर्ण समाज का बड़ा कल्याण हुआ। ज्यों ज्यों दार्शनिक सिद्धान्तों की जटिलता बढ़ती गई त्यों त्यों ईश्वरीय भावनाओं का अनुसरण और अभ्यास करना साधारण विद्या-बुद्धि वाले आर्यों के लिये भी कठिन होता गया। सभी-पढ़े लिखे लोगों में भी यह योग्यता नहीं थी कि केवल निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते। लाखों में किसी एक साधकों या योगियों की वृत्ति वाले पुरुष में यह योग्यता देखी जाती है कि वे नाम और रूप से ऊपर उठ सकते हैं। अन्यथा नाम और रूप से बाहर निकलना प्राणी मात्र के लिये दुःसाध्य है। वह जब कभी भगवदुपासना करता है तो अपनी मनोवृत्ति के अनुसार किसी न किसी नाम और रूप की कल्पना करके ही करता है। इसलिये जनता के कल्याण के लिये उसके सामने निर्गुणब्रह्म का नाम-रूपात्मक सगुणस्वरूप रखना अनिवार्य हो गया। सगुण स्वरूप का आधार क्या है? उसके बाह्य स्वरूप

कैसे हैं ? उनका क्या प्रयोजन है ? इन विषयों की चर्चा हम सिद्धांत खण्ड में कर चुके हैं। आगे हम यह बताने की चेष्टा करेंगे कि जो सर्प-पूजक थे उनका सर्प, जो लिङ्ग-पूजक थे उनका लिङ्ग और जो भूतप्रेतादि के पूजक थे उनके भूत-प्रेत किस प्रकार ब्रह्म बना लिये गये; सबकी धार्मिक भावनाओं की रक्षा करते हुए भी सबकी अनेकता में किस प्रकार एकता उत्पन्न की गई; और सभी आर्य-अनार्य भ्राता किस प्रकार एक विशाल परिवार की तरह मिल गये तथा एक दूसरे के देवताओं की पूजा करते हुए भी एक शुद्ध ब्रह्म की उपासना में लग गये। इसीके परिणाम स्वरूप आज हम देख रहे हैं कि अनेक भाषा, जाति और भाव की अनेकता रहने पर भी हिन्दू संस्कृति की धारा काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक अविच्छिन्न गति से बह रही है। यह हिन्दुओं की एकता का सूक्ष्म किन्तु बड़ा ही मजबूत सूत्र है जो उनकी प्रत्येक नस से होकर गुजरता है और उन्हें छिन्नभिन्न नहीं होने देता।

जिस समय प्राचीन आर्यगण अनार्यों को आर्य बनाने और राष्ट्र संगठन के महायज्ञ में लगे हुए थे उस समय भी अपनी वस्तु की पवित्रता को विशुद्ध बनाये रखने का भाव उनके हृदय को आन्दोलित और चिन्तित कर रहा था। यदि शूद्र अथवा अनार्य वेद पढ़ते तो वे भाष्यादि लिखते तथा क्रियाकलाप भी आरम्भ करते। ऐसी हालत में अनार्य सम्मिश्रण अनिवार्य था। इसे रोकने के लिये इन्होंने बड़े कड़े नियम बनाये। अनार्यों को वेदाध्ययन से दूर रखा और चिन्ता के आवेशमें यहाँ तक कह डाला कि जहाँ वेद-ध्वनि होती हो वहाँ यदि कोई शूद्र उपस्थित होकर सुने तो उसके

कान में शीशा गलाकर डाल दिया जाय। इस नियम से कभी काम लिया गया वा नहीं, यह हम नहीं जानते पर धर्मशास्त्रों में यह नियम अवश्य पाया जाता है। आज जब आर्य और अनार्य सभी बन्धु मिल कर एक हो गये हैं, उस समय इन नियमों का पढ़ना नागवार मालूम पड़ सकता है, पर इस नियम के नौचित्य वा अनौचित्य पर विचार करते समय हमें उस समय की परिस्थिति पर ध्यान देना चाहिये। प्रत्येक सभ्य जाति आत्मरक्षा की चिन्ता से ऐसे ही नियम बनाती है। आज के सभ्य राष्ट्र भी इन नियमों से काम ले रहे हैं। वामन द्वारा बलि इत्यादि के यज्ञविध्वंस से भी यही बोध होता है कि सभ्य अनार्यों में आर्यभाव और यज्ञादि का प्रचार होने देना नहीं चाहते थे। ऐसी कथाएँ पुराणों में भरी पड़ी हैं।

मालूम होता है कि उस समय अनेक अनार्य कन्याएँ आर्यसमाज में आ चुकी थीं। उनके द्वारा भी संस्कृति-सम्मिश्रण होने का डर था। इसलिये इन लोगों ने नियम बनाया कि स्त्रियाँ भी वेदाध्ययन की अधिकारिणी नहीं हैं। स्त्रियाँ और शूद्र अपने धर्म कर्म पुराणों द्वारा सीख सकते हैं।

इस चिन्ता और सावधानी का परिणाम यह हुआ कि वैदिक जनता में अवैदिकों का सम्मिश्रण हुआ सही, किन्तु वैदिक सभ्यता विशुद्ध से भी विशुद्ध रूप में आज भी हमारे सामने मौजूद है। वैदिक साहित्य में जहाँ तहाँ अनार्य सभ्यता का निर्देश मिलता है पर वह "अङ्गुल्या निर्देश" मात्र है। वैदिक सभ्यता पर उसका कोई प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता।

इतनी पर्यालोचना करने के बाद जब हम हिन्दू सभ्यता

का सिंहावलोकन करते हैं तो हमें प्राचीन आर्यों का शुद्ध स्वरूप वैदिक साहित्य में मिलता है और हिन्दू राष्ट्रनिर्म्माण अर्थात् आर्य और अनार्यों के संघर्ष का इतिहास पौराणिक ग्रन्थों में मिलता है। हम पुराण तथा बाहरी सामग्रियों के द्वारा इसके इतिहास को बताने की चेष्टा करेंगे।

वेद और वैदिक साहित्य में जो कुछ है वह आर्यों की अपनी सम्पत्ति है, और जो हिन्दू धर्म और पुराणों में रहने पर भी वेद में नहीं है वह अनार्यों से लिया गया है। वैदिक और पौराणिक साहित्य का जो कुछ हमने अध्ययन किया है उससे मेरा विश्वास है कि इन विषयों का पूरा इतिहास संस्कृत साहित्य में वर्तमान है। सहिष्णुतापूर्वक कुछ समय तक लगातार परिश्रम करने से इसका पूरा पता लग सकता है। मुझे जितना पता लगा है उसे मैं लिपिबद्ध करने की चेष्टा करूँगा।

वैदिक और अवैदिक साहित्य का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने से पता लगता है कि हिन्दू देव समाज में विष्णु और सूर्य वैदिक देव हैं पर गणेश, शङ्कर, स्कन्द, शेष के रूप में सर्प, काली-चण्डी आदि देवी और लिङ्ग-योनि की पूजा अनार्यों से ली गई है। इनके प्रारम्भिक स्वरूप के बीभत्स रहने पर भी आर्य्य ऋषियों की पवित्र भावनाओं और कलामयी कल्पना के प्रभाव के द्वारा इन का बीभत्स स्वरूप अन्तर्हित हो गया है और ये दिव्य रूप में हमारे पूज्य होकर हिन्दू जनता के हृदय में अवस्थित हैं।

यह कहना सर्वथा युक्तिसंगत है कि जिस दार्शनिक सिद्धान्त का हम वर्णन कर आये हैं, और जो हिन्दू सभ्यता के भीतर

अन्तर्धारा की तरह वह रहा है, उसका विकाश हठात् एक दिन में या एक ही वार नहीं हुआ। इसका युग-युग में क्रम-विकाश होता रहा और भिन्न-भिन्न युगों के चिन्तनशील दार्शनिकों, साधकों और भक्तों के अथक और निरंतर परिश्रम से इसने वर्तमान स्थिति प्राप्त की है। हिन्दू दर्शन का सिद्धान्त हिन्दू धर्म की कुञ्जी है। जिस समय दर्शन की जैसी अवस्था रही धर्म ने भी वैसा ही रूप धारण किया। ऋग्वेद के समय में दार्शनिक सिद्धान्त ऐसी समुन्नत अवस्था में न थे। इसलिये वैदिक देव-देवियों के रूप भी अनस्थिर हैं। इन्द्र ऋग्वेद का सर्वश्रेष्ठ देव है पर इसकी स्वतन्त्र स्थिति नहीं है। उस समय यद्यपि नाना प्रकार के धर्म कर्म हुआ करते थे, पर नास्तिकों की भ कमी नहीं थी†। इसलिये धर्म का स्वरूप भी अनिश्चित है। इसके वाद ही मालूम होता है कि न्याय के सिद्धान्तों का प्रचार हुआ। इसने अपने अकाट्य तर्क और युक्तियों द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध किया और नास्तिकों का मुख वंद किया। किंतु इसने ईश्वर के किसी रूप का निश्चय न किया। उसके वाद ही मालूम होता है कि प्रकृति-पुरुष और २५ तत्त्वों के रूप में सांख्य ने द्वैत सिद्धान्त द्वारा ईश्वर के रूप को निश्चित करने की चेष्टा की। पर यह अपने तर्कों में ही उलझ कर पुरुष के असंख्य रूप को मानने लगा और इसने कह दिया कि 'ईश्वरासिद्धेः' एक ईश्वर

---

†. बृहस्पते देवनिदो निबर्हय। ऋ० २.२३.८

सरस्वती देवनिदो निवर्हय। ऋ० ६.६१.३

ऋग्वेद २.१२.१५ में अविश्वासियों को विश्वासियां विश्वास दिलाने के लिये 'सजनास इन्द्रः' १४ वार दुहराया गया है—

का अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह सिद्धान्त इतना प्राचीन है कि इसके अलावा पता लगाना कठिन है। इसके बाद वेदान्त के अद्वैतवाद का प्रचार हुआ। इसने प्रकृति और पुरुष दोनों के ही स्रष्टा को ब्रह्म कहा। इसीका नाम पुरुषोत्तम भी पड़ा। दार्शनिक विचार में इस परिवर्तन की चर्चा पुराणों में अनेक स्थानों में की गई है।

पुराणों से पता लगता है कि वेदान्त और सांख्य ने कैसे परिवर्तन किया। सांख्य ने प्रकृति और पुरुष को अलग माना और कहा कि दोनों ही अनादि हैं। वेदान्त ने यही प्रचार किया कि प्रकृति कोई भिन्न शक्ति नहीं है। इसका स्वरूप ठीक वैसा ही है जैसा सांख्य ने वर्णन किया है परन्तु इसका अलग अस्तित्व नहीं है। इसकी उत्पत्ति ब्रह्म से होती है और फिर यह ब्रह्म में ही लीन हो जाती है †। प्रसिद्ध दार्शनिक राधा-

† प्रोच्यते प्रकृतिर्हेतुः प्रधानं कारणं परम्।
इत्येषा प्रकृतिः सर्वा व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी॥
व्यक्ताव्यक्तात्मिका तस्मिन्प्रकृतिः संप्रलीयते।
पुरुषश्चापि मैत्रेय व्यापिन्यव्याहतात्मनि॥
विष्णु० ६.४५।

व्यक्तस्वरूपमव्यक्ते तस्मिन्मैत्रेय लीयते।
एकः शुद्धाक्षरो नित्यः सर्वव्यापी तथा पुमान्॥
विष्णु० ६.३४, ३५।

प्रकृतिर्यामया ख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि॥
विष्णु० ६.३८।

कृष्णन् के अनुमान से भी यही प्रकट होता है और यह सर्वथा युक्तिसङ्गत है। *

समय समय पर दर्शन-शास्त्र के इन सिद्धान्तों में ज्यों ज्यों परिवर्तन होता गया उसी प्रकार धर्म का या ब्रह्मोपासना का स्वरूप भी परिवर्तित होता गया।

सर्प

अनुसन्धान से पता लगा है कि संसार की अनेक प्राचीन जातियों में सर्प की पूजा होती थी। कोई सर्प बड़े ही भयङ्कर तथा सुन्दर होते हैं। शायद सर्प के इन्हीं गुणों को देख कर ये अनार्य जातियाँ इनपर मुग्ध थीं। यह केवल अनुमान भर है। इस उपासना का सच्चा कारण क्या था यह कहना कठिन है। नेलसन के विश्वकोष ((Cyclopaedia) में लिखा है—

'मालूम होता है कि सर्प पूजा कभी न कभी विश्वव्यापी थी। जापानी पहिले पानी के साँप को देवता की तरह श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उनकी परम्परागत दन्तकथा है कि सृष्टा पहिले मनुष्यों के सामने सर्प के रूप में प्रकट हुए। नौस्टिक (Nostic) जाति की एक शाखा ओफीटीज़ (Ophetes) अपने

सैव वागब्रवीद्देवी प्रकृतिर्याभिधीयते।
विष्णुना प्रेरिता माया जगदीशा जगन्मयी॥

ब्रह्म० १६१.१४।

ओंकारभूता या देवी मातृकल्पा जगन्मयी।

ब्रह्म० १६१.१८।

* Radhekrishnan, Indian philosophy. Vol. I. P. 56.

को 'नागसेनी' वा सर्प पूजक कहती थी। ऐसा कहा जाता है कि वे पालतू सर्प को सन्दूक या छोटे मन्दिरों में रखते थे और अपनी गुप्त पूजा के समय इन्हें किसी प्रकार फुसला कर बाहर करते थे। अलेग्जन्ड्रिया (Alexandria) और एपिदौरस (Epidaurus) के एसकुलेपियस (Æsculapius) के मन्दिर में पुजारी गण बड़ी सावधानी से पाल पोस कर एक एक सर्प रखते थे। मिश्र देश के निवासी इसे अगाथोडिमन (Agathodaemon) अर्थात् देवदूत कहा करते थे। अनुमान किया जाता है कि ये फन वाले सर्प हुआ करते थे। यही प्राचीन अगाथोडिमन नाग के रूप में अब भी हिन्दू मन्दिरों में उसी तरह रहता है जिस तरह यह प्राचीन काल में आइसिस (Isis) के मन्दिर में रहा करता था। यह तुरही की आवाज सुन कर पुजारियों के दिये हुए दूध का अर्घ्य पीने के लिये बिल से बाहर निकल आता है। ग्रीस देश की गुप्त पूजाओं में सर्प का बहुत ऊँचा स्थान था। पश्चिम युरोप की कलाओं में सर्प के अनेक रूप बार बार देखे जाते हैं और यूरोप की किस्से-कहानियों में साँप का ऊँचा स्थान हैं। उत्तर अमेरिका के आदि निवासियों के पूजा-पाठ में साँपों की पूजा बहुत समय से चली आ रही है।"

कप्तान जे० एस० एफ़ मेकेन्ज़ी ने इन्डियन एन्टीक्वेरी में लिखा है कि—दक्षिण भारत में बहुत से पत्थर मिलते हैं जिन पर साँपों की मूर्तियाँ खुदी हैं। इन पत्थरों की संख्या देखने से मालूम होता है कि बंगलोर जिले में इन पत्थरों की अधिक पूजा होती है। * उसी पुस्तक में काठियावाड़ में प्रचलित सर्प पूजा

* Indian Antiquary 1875. Page 5.

का वर्णन है। ‡ इसके सम्बन्ध में सम्पादक ने अपनी टिप्पणी दी है कि पश्चिम और दक्षिण भारत में किसी न किसी रूप में सर्वत्र सर्प श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। श्रीयुत एम० जे० वाहाउस साहब ने लिखा है कि साँप पूजनेवाली प्राचीन से भी प्राचीन कुछ जाति नई दुनियाँ में अब भी वर्त्तमान है *। इससे सिद्ध होता है कि सर्प-पूजक जाति संसार के और भागों की तरह भारतवर्ष में वर्त्तमान थी। आर्यों की मनोवृत्ति का अनुशीलन करने से पता लगता है कि ये सर्प पूजक नहीं है। सर्पों से इनकी किसी प्रकार की सहानुभूति नहीं है और न ये श्रद्धा दिखलाते हैं। प्रत्युत जहाँ ये सर्पों को देखते हैं वहाँ उन्हें मार ही डालते हैं। ऋग्वेद में वृत्र को अहि ‡ कहा गया है और घृणा प्रकट की गई है। पुराणों में इन्हें क्रूर † और नीच कहा

‡ Indian Antiquery. 1875. P.193

* Ibid Page 46.

‡ ऋग्वेद । ६-३३-२

Ibid 6. 29. 6.

† सर्पो निकृन्तनः प्रोक्तः कालसूत्रेऽतिदारुणः ।

ब्रह्म० १०१.१८१

अतितिक्षाधनं क्रूरमुपभोगमयं हरे ।

द्विजिह्वं तव यद्रूपं तस्मै सर्पात्मने नमः ॥

विष्णु० १७.२२

सर्पणात्तेऽभवन्सर्पा हीनत्वाच्च हयः स्मृतां ।

ततः क्रुद्धो जगत्स्रष्टा क्रोधात्मानो विनिर्ममे ॥

विष्णु० ५.४३

गया है और कद्रू, विनता-इत्यादि के रूप में जहाँ जहाँ उनकी कथा आई है वहाँ उनकी निन्दा की गई है। इससे सिद्ध होता है कि आर्य न कभी सर्प पूजक थे और न अभी हैं। शेष या वासुकी के रूप में जो सर्प का सन्निवेश किया गया है वह अनार्यों से लिया गया है।

ऊपर हमलोग देख चुके हैं कि—भारतीय अनार्यों की एक शाखा सर्प-पूजक अवश्य थी। इनके सबसे बड़े आराध्य देव सर्परूप धारी थे। उनके इस स्वरूप को अपने दार्शनिक विचारों द्वारा परिमार्जित कर आर्यों ने उन्हें अपने पौराणिक कथानकों में मिला लिया। उन्होंने कहा कि सर्प ईश्वर का रौद्र रूप है। ये काल हैं और इन का अन्त नहीं है, अनन्त हैं। विष्णु का नाम भी अनन्त है। इसलिये इन्हें विष्णु कहा कहा गया। (देखिये विष्णु० १७.२२) वेद में ईश्वर वा विष्णु को 'सहस्रशीर्षा पुरुषः" कहा गया है। सर्पको भी शेष बनाकर उसके साथ सहस्र शिर की कल्पना की गई और शेषक्रमशः वैदिक भावना में सम्मिलित कर लिया गया। वैदिक आर्यों ने सर्प में अपने वेद के 'सहस्रशीर्षा' को देखा और अनार्यों ने सहस्र-शीर्षा' में अपने आराध्य देव को देखा। कभी इसे काल और कभी विष्णु मान लिया गया इस तरह अनार्यों की भावनाओं का यथोचित आदर करते हुए उन्हें पवित्र बनाकर ऋषियों ने अनार्यों को आर्य बना लिया। आज आर्यों से भिन्न अनार्यों का कोई अस्तित्व नहीं है। सर्पों के नाम पर केवल एक ही त्योहार मनाया जाता है। वह है 'नागपञ्चमी' जो सर्पों का

जन्म दिवस कहलाता है। द्राविड़ ब्राह्मण नागपञ्चमी नहीं मनाते। दूसरा त्योहार है 'अनन्तपूजा व्रत' जिस में अनन्त नामक विष्णु की पूजा की जाती है। क्रमविकास की अन्तिम स्थिति में अनन्त की मूर्ति की कल्पना इस प्रकार की गई है—

अनन्तोऽनन्तस्वरूपस्तु हस्तैर्द्वादशभिर्युतः।
अनन्तशक्तिसंवीतो गरुडस्थश्चतुर्मुखः॥
गदाकृपाणचक्राढ्यो वज्राङ्कुशवरान्वितः।
शङ्ख खेटं धनुः पद्मं दण्डपाशौ च वामतः॥*

अनन्त के रूप अनन्त हैं। इनके बारह हाथ होने चाहिये। अनन्त की शक्ति साथ रहें और ये गरुड़ पर बैठे रहें, गदा, कृपाण, चक्र, वज्र अङ्कुश और वरद हस्त रहें। बाईं ओर के हाथों में शङ्ख, खेट, धनुष, पद्म, दण्ड और पाश रहे।

आरम्भिक सभी अपूर्णताओं को अन्त में भगवती गीता यह कह कर पूर्ण कर देती है कि—

अनन्तश्चामि नागानाम्।

पुराण और अनार्य-सभ्यता

पुराणों के द्वारा ही अनार्य सभ्यताका संस्कार वा संहार किया गया। आज जो कुछ हम देखते हैं वह आर्य्यमय दीखता है, पर अनार्य इतने सभ्य थे कि उनकी सभ्यता पुराण के आवरण के भीतर भी नहीं छिप सकती है। जो वस्तु जितनी प्राचीन रहती है और जिसका विकास जितना अक्षुण्ण रहता है उस पर जनता की उतनी ही श्रद्धा होती है। वेद सब से

---

* Hindu Iconography vol, I, Pt, I page 257-8

प्राचीन है। इसलिये उसपर लोगों की सबसे अधिक श्रद्धा है। लोगों की श्रद्धा को स्थिर रखने के लिये कहा गया कि पुराण वेद से प्राचीन तो नहीं है पर प्राचीनता में वेद के बाद इसी का स्थान है। पर कभी कभी ऐसा भी कहा गया कि पुराण वेद से भी प्राचीन है।

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥

मत्स्य० ३.३

ब्रह्माने सब शास्त्रों से पहिले पुराण को ही बनाया। इसका विस्तार शतकोटि है। यह पुण्यकर, नित्य और शब्दमय है।

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

मत्स्य० ५३.३

सभी शास्त्रों के पहिले ब्रह्माने पुराण को बनाया। उसके बाद उनके मुख से वेद निकले।

इन उक्तियों का अर्थ यह भी हो सकता है कि वेद शब्द ब्रह्ममय है। ब्रह्मज्ञानियों ने इसे ब्रह्मज्ञान का आधार बनाया और पुराणों में प्राचीन वस्तुएँ आख्यान, गाथा इत्यादि के रूप में सुरक्षित रक्खी गई†। मत्स्य पुराण में ही लिखा है कि पहिले एक ही पुराण था जिस से पुण्य कर्म का प्रचार होता था।

---

† आख्यानैश्चाप्युपाख्यानैर्गाथाभिः कुलकर्मभिः।
पुराणसंहितां चक्रे पुराणार्थविशारदः॥

वायु० ६०, २१

पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ ।
त्रिवर्ग साधनं पुण्यं शतकोटि प्रविस्तरम् ॥

मत्स्य० ५३.४

इससे मालूम होता है कि इसका प्रारम्भिक रूप वेद से भी प्राचीन हो सकता है। इसी प्राचीनतम संस्था के द्वारा आर्यों की उद्देश्यसिद्धि हुई।

आर्य और अनार्य

आर्यों के साथ अनार्यों के सम्मिश्रण के इतिहास पुराणों में ही मिलते हैं। इसके केवल सङ्केत मात्र से यह बात स्पष्ट हो जायगी। असुर-इतिहास में बलि का बड़ा ऊँचा स्थान है। आर्यों के हृदय में इसके चरित्रबल की इतनी श्रद्धा थी कि श्रावणी पूर्णिमा के दिन 'येन बद्धो बली राजा' इत्यादि कह कर प्रति वर्ष भारतवासी इसके दान धर्म की प्रशंसा करते हैं। उस बलि के विषय में लिखा है कि एक बार देवगण (आर्य गण) युद्ध में बलि से पराजित हुए।

बलिर्नाम महादैत्यो देवारिरपराजितः ।
धर्मेण यशसा चैव प्रजासंरक्षणे न च ॥
गुरुभक्त्या च सत्येन वीर्येण च बलेन च ।
त्यागेन क्षमया चैव त्रैलोक्येनोपमीयते ॥
तस्यर्द्धिमुन्नतां दृष्ट्वा देवाश्चिन्तापरायणाः ।
मिथः समूचुरमरा जेष्यामो वै कथं बलिम् ॥
तस्मिन्शासति राज्यं तु त्रैलोक्यं हतकण्टकम् ।
नारयो व्याधयो वाऽपि नाधयो वा कथञ्चन ॥

अनावृष्टिरधर्मो वा नास्ति शब्दो न दुर्जनः ।
स्वप्नेऽपि नैव दृश्येत बलौ राज्यं प्रशासति ॥
तस्योन्नतशरैर्भग्नाः कीर्तिखङ्गद्विधाकृताः ।
तस्याज्ञाशक्तिभिन्नाङ्गादेवाः शर्म न लेभिरे ॥
ततः संमन्त्रयामासुः कृत्वा मात्सर्यमग्रतः ।
तद्यशोऽग्निप्रदीप्ताङ्गा विष्णुं जग्मुः सुविह्वला ॥

ब्रह्म० ७३. २—८

"बलि नाम का एक बड़ा प्रतापी राक्षसों का राजा था। देवताओं से शत्रुता रखने पर भी उसे कोई पराजित न कर सका। प्रजाओं की सावधानी से रक्षा करने के कारण वह बड़ा ही यशस्वी और धार्मिक था। गुरुभक्त, सत्य, बलवीर्य, त्याग और क्षमा में उसके समान कोई नहीं था। उसकी उन्नति और समृद्धि को देख कर देवता दिन रात सोचने लगे और सब मिल कर कहने लगे कि किस प्रकार हमलोग बलि को जीतेंगे। उसके राज्यकाल में तीनों लोक का कण्टक नष्ट हो गया। न कोई शत्रु कहीं है, न कोई रोग है और न किसी को कोई मानसिक चिन्ता है। अनावृष्टि वा अधर्म की आवाज कहीं सुनाई नहीं पड़ती और न कहीं गुण्डे बदमाश हैं। बलि के राज्यकाल में तो स्वप्न में भी इनका मिलना दुर्लभ है। उसकी उन्नति रूपी बाण के चुभने से, कीर्तिरूपी तलवार के वार से तथा उसकी आज्ञारूपी बर्छे से छिद कर देवगण बेचैन हो उठे। मत्सर के वश में होकर वे मन्त्रणा करने लगे। उसके यशरूपी अग्न से झुलस कर विह्वल हो वे विष्णु के पास गये।"

इस उद्धरण का एक एक अक्षर ध्यान देकर मनन करने योग्य है। असुर होने पर भी बलि अधार्मिक नहीं था। उसका चरित्रबल ऊर्जस्वल और आदर्श था। इसी आत्मबल के कारण वह आर्यों पर भी शासन करने लगा। इससे स्वाभिमानी और गर्वीले विजेता आर्यगण तिलमिला उठे। ईर्ष्या के वश में होकर धर्म या अधर्म से वे उसके संहार की चिन्ता करने लगे। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये वे विष्णु के पास गये। वर्तमान पूज्य देव समूह में विष्णु ही आर्य्य और वैदिक देवता हैं। शङ्कर चण्डिका आदि सब अनार्यों से लिये गये हैं। इस लिये आर्यगण विष्णु—अपने वैदिक-देवता—के पास जाते हैं। वहां जाकर वे कहते हैः—

देवा ऊचुः—

स्रष्टा त्वं ब्रह्ममूर्त्या तु विष्णुर्भूत्वा तु रक्षसि।
संहर्त्ता रुद्रशक्त्या त्वं कथं दैत्यं नमेमहि॥

ब्र० ७३.१५

"देवताओं ने कहा—ब्रह्मा रूप से आप सृष्टि करते हैं, विष्णु होकर रक्षा करते हैं और रुद्ररूप से संहार करते हैं। आप ही बतावें कि हम दैत्यों के सामने कैसे शिर झुकावें"

अहम्मन्यता और झूठे अहङ्कार की हद हो गई। ईर्ष्यावश एक निरीह और धार्मिक पुरुष का छल प्रपञ्च से सर्वनाश करेंगे पर चरित्रबल में श्रेष्ठ और आत्मशक्ति में प्रबल होने पर भी एक सज्जन की बात मानकर समाज में नहीं रहेंगे। जाति और वंश के झूठे अभिमान के मोह में पड़ कर लोग ऐसे ही पतित हो

जाते हैं। इसके बाद वलि के साथ जैसा वर्ताव हुआ यह सब पर विदित है।

मरे हुए को जिला देने की विद्या शुक्र को मालूम थी। ऋषियों को यह मालूम नहीं थी। शङ्कर की तपस्या करके शुक्र ने इसे प्राप्त की थी। वर मांगते समय शुक्र ने शङ्कर से कहा था—

ब्रह्मादिभिश्च ऋषिभिर्या विद्या नैव गोचरा।
तां विद्यां नाथ याचिष्ये त्वं गुरुर्मम दैवतम्॥

ब्रह्म० ९५. २५

"जो विद्या ब्रह्मा इत्यादि ऋषियों को भी मालूम नहीं है वही मैं आप से लूँगा। आप मेरे गुरु और देवता हैं।"

मत्स्य पुराण में लिखा है—

तस्य तुष्टस्य देवेन शङ्करेण महात्मना।
मृतसञ्जीवनी नाम विद्या दत्ता महाप्रभा॥
तां तु माहेश्वरीं विद्यां महेश्वरमुखोद्गताम्।
भार्गवे संस्थितां दृष्ट्वा मुमुदुः सर्वदानवाः॥

मत्स्य० २४९.५,६

"शङ्कर ने प्रसन्न होकर बड़ा प्रभाव वाली मृतसञ्जीवनी नाम की विद्या शुक्र को दी। इस माहेश्वरी विद्या को शुक्र के पास देख सभी राक्षस आनन्द मनाने लगे।" यह मृतसञ्जीवनी विद्या आर्यों के पास नहीं थी। वृहस्पति के पुत्र कचने इसे शुक्रसे प्राप्त की थी। इससे मालूम होता है कि असुर अथवा अनार्यगण कितने सभ्य थे।

अनार्यों से आर्यों ने क्या प्राप्त किया इसका ठीक ठीक पता

लगना सम्भव नहीं मालूम पड़ता। हाँ, इस सम्बन्ध की मोटी मोटी बातें साफ साफ दिखाई पड़ती हैं।

शङ्कर

इसमें सन्देह नहीं कि शङ्कर अनार्य देवता हैं। पुराणों में इन्हें भूतप्रेताधिप कहा गया है। ब्रह्मपुराण में लिखा है—

पिशाचानामनुज्ञाय ब्रह्माऽसोऽधिपतिर्दर्दो।
सर्वभूत पिशाचानां गिरिशं शूल पाणिनम्॥

ब्रह्मा० ६१.२८८

"पिशाचों की सृष्टि कर ब्रह्मा ने पहाड़ों में रहने वाले शूलधारी महादेव को सभी भूत और पिशाचों का अधिपति बनाया।"

नमोऽस्तु कालकालाय तृतीयनयनाय च।
अन्तकान्तकृतेचैव नमः पर्वतवासिने॥

ब्रह्म ३७.१०

आप कालके भी काल हैं। तीन नेत्र वाले हैं। आप पर्वत पर निवास करने वाले हैं।

आर्यसभ्यता का मनन करने से देखा जाता है कि वैदिक ऋषिगण अपवित्र भावको सहन नहीं कर सकते हैं न भूत प्रेतादि की पूजा इन्हें अपेक्षित है। इस सिद्धान्त के ये सर्वदा विरुद्ध देखे जाते हैं। भूत प्रेताधिपों को अपना पूज्य ये कदापि स्वीकार नहीं करते। महादेव का अनार्य होना निम्नलिखित पंक्तियों से और भी स्पष्ट हो जाता है—

शङ्कर के वर्णन में लिखा है—

दण्डधृक्वक्रदण्डश्च रौद्रभागविनाशनः ।
विषयोऽमृतपश्चैव सुरापः क्षीरसोमपः ।
मधुपश्चापयश्चैव सर्वपश्च बलाबलः ॥

ब्रह्म० ५०.८०

"आप वक्रदण्ड धारण करनेवाले और दण्ड धारण करनेवाले हैं। रुद्र के भाग का आपने संहार किया है। विष, अमृत, शराब, दूध और सोम का आप पान किया करते हैं। आप मधु, जल और क्या नहीं पीते हैं। निर्बल और सबल आप ही हैं"

भूत-प्रेत और मद्यपानादि से सूचित होता है कि ये अनार्य भावनाएँ हैं। ये अनार्य भावनाएँ किस प्रकार आर्य में मिल गईं इसका निम्नलिखित उदाहरण मनोरञ्जक प्रतीत होगा। श्रीयुत गोपीनाथ राव लिखते हैं—

"अपनी कल्पना से अनेक प्रसिद्ध स्थानोंके नाम रख लिये गये हैं, जिनसे अनेक देवताओं और मूर्तियों की उत्पत्ति हुई है। उदाहरणार्थ, प्राचीन तामिलग्रन्थों में काञ्चीपुर का नाम 'कञ्ची' है। काञ्जी वेरम में शिव की एक मूर्ति है जिस का नाम कच्छीयपेश्वर है। इसीका संस्कृत स्वरूप कच्छपेश्वर कर दिया गया है। इस देवता का जो तामिल नाम है उसका अर्थ 'भगवान् कच्छीयप्पा' है अर्थात् 'कच्छीयप्पा द्वारा स्थापित ईश्वर' है। किन्तु कछुवे का संस्कृत नाम कच्छप है इसलिये कच्छपेश्वर का अर्थ शिव का वह स्वरूप अवश्य है जिसकी पूजा विष्णु ने कूर्मावतार में की थी। भाषा सम्बन्धी यह मन-

गढ़न्त कल्पना मूर्त्ति रूप में स्थायी वना दी गयी है और इस कल्पना के अनुसार एक मूर्त्ति वना कर मन्दिर के प्राकार के भीतर स्थापित कर दी गयी है, इस प्राचीन मन्दिर की इस नई मूर्त्तिके विषय में किसीको कुछ मालूम नहीं है। यहां के पुजारी भी नहीं कह सकते कि इसका क्या मतलव है।"

'चित्सभेश और चिदम्बरेश्वर के सम्बन्ध में भी ऐसी ही घटना देखी जाती है। ये नाम भी एक ऐसे नाम के संस्कृत रूप वन कर प्रचलित हुए हैं जिसके मूल रूप के तामिल होने में कोई सन्देह ही नहीं रह जाता। यह मन्दिर जिस स्थान पर अभी वना हुआ है उसका प्राचीन नाम तिल्लइ वा तिल्लइ-वनम् था। तिल्लइ वनम् में एक छोटा मन्दिर था जिसका नाम था चिड्ड़म्वलम् अर्थात् छोटा मन्दिर। जव इस मन्दिर के देवता चोड़ राजाओं के परिवार-देवता वने तो इस मन्दिर पर राजाओं की अधिक कृपा रहने लगी। धीरे धीरे यह छोटा मन्दिर आकार में वढ़ने लगा। पीछे जितने राजा होने लगे उन लोगोंने प्राकार, गोपुर, मण्डप, पुष्करिणी खुदवाये। इतना होने पर भी इसका प्राचीन नाम चिड्ड़म्वलम् ज्यों का त्यों वना रहा। सचमुच में तिरुज्ञान सम्वन्ध, अप्पर और वहुत हाल की सुन्दर मूर्ति द्वारा गीतों में चिड्ड़म्वलम् कह कर ही इसकी स्तुति की गई है, चिड्ड़म्वलम् का साधारण उच्चारण चित्तम्वलम् की तरह होता है और वड़ी आसानी से इसका संस्कृत रूप चिदम्वरम् वन गया है, जिसका प्रतिशब्द चिदा-काश भी वन गया। इसलिये इस मन्दिर में जिस लिङ्ग की पूजा होती है वह आकाश का प्रतिरूप समझा जाता है। तामिल

नाम के संस्कृत नाम बनानेवालों के द्वारा चिड्ड़म्बलम् में एक और परिवर्त्तन किया गया। उसे लोग चित्सभा भी कहने लगे। यदि नाम के पूर्व परिवर्त्तित रूपों को स्मरण किया जाय, तो इस नाम की उत्पत्ति बड़ी आसानी से समझ में आ जाती है। तामिल में अम्बलम् शब्द का अर्थ मण्डप होता है। संस्कृत में इसका अनुवाद सभा शब्द से किया जा सकता है। इस प्रकार चित्सभा शब्द की उत्पत्ति हुई; और उसके देवता चित्सभेश अर्थात् मनमन्दिर के अधीश्वर बन गये। इस तरह चिदम्बरेश्वर चित्सभेश शब्द की उत्पत्ति हुई। और इसी प्रकार मन्दिर स्फटिक लिङ्ग का इन नामों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया होगा।" ‡ अनार्यों के आर्य होने का यह एक उदाहरण है।

दक्षयज्ञ में आर्यों द्वारा अनार्य देवता के ग्रहण का एक दूसरा उदाहरण मिलता है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि दक्षप्रजापति यज्ञ करने लगे। अपने यज्ञ में वे महेश्वर वा महादेव को भाग नहीं देना चाहते थे। दधीचि ऋषि उन्हें समझाने गये कि आप महादेव को भाग दीजिये इसपर दक्षने उत्तर दिया—

सन्ति मे बहवो रुद्राः शूलहस्ताः कपर्दिनः।

एकादश स्थानगताः नान्यं विद्मो महेश्वरम्॥

कपर्दी और शूल धारण करने वाले मेरे (वैदिक) ग्यारह रुद्र हैं। (यह बारहवाँ) महेश्वर कौन है इसे मैं नहीं जानता।

---

‡ Hindu Econography vol I. P. I. P. 42-44.

दधीचि ने उत्तर दिया—

सर्वेषामेकमन्त्रोऽयं ममेशो न निमन्त्रितः।
यथाहं शङ्करा दूर्ध्वं नान्यं पश्यामि दैवतम्।
तथा दक्षस्य विपुलो यज्ञोऽयं न भविष्यति ॥

आप सबने मिलकर यह सलाह की है और सबकी सम्मति से ही मेरे भगवान् को नहीं बुलाना निश्चित किया है। मैं तो देखता हूँ कि शङ्कर से बड़े कोई देवता नहीं हैं। अच्छा, तो दक्षने जो यह महान् यज्ञ का आयोजन किया है वह यज्ञ नहीं हो सकेगा †

"सर्वेषामेकमन्त्रोऽयं" से मालूम होता है कि सभी आर्य-गण मिलाकर इस अनार्य देवता को अपने यज्ञ में भाग देकर अपने में सम्मिलित करना नहीं चाहते थे। इस पर अनार्यों की ओर से दधीचि दूत बनकर आये और उन्होंने धमकाना शुरू किया। इसपर दक्ष ने फिर उत्तर दिया—

विष्णोश्च भागा विविधाः प्रदत्तास्
तथा च रुद्रेभ्य उतप्रदत्ताः।
अन्येऽपि देवा निजभाग युक्ता
ददामि भागं नतु शङ्कराय ॥

ब्रह्म० ३९.३३

"विष्णु को नाना प्रकार का भाग दिया गया है, रुद्रों को भी दिया गया है। और और देवों को भी अपना भाग मिला है। शङ्कर को मैं भाग न दूँगा।" दक्ष वैदिक देवताओं को भाग

† ब्रह्म ३९. ३१-३२

देते हैं पर इस अवैदिक देवता को भाग देना नहीं चाहते। इसपर आर्य-अनार्य का युद्ध होता है, आर्य पराजित होते हैं और यह अनार्य देवता भी यज्ञ में भाग पाता है। पौराणिक युद्ध के अन्त में ब्रह्मा कहते हैं—

तदाचाहं महादेवमत्रवं प्रतिपूजयन्।
भवतेऽपि सुराः सर्वे भागं दास्यन्ति वै प्रभो॥
ब्रह्म० ३०.८४

तब मैंने महादेव की पूजा कर उनसे कहा—प्रभो देवगण आपको भी भाग दिया करेंगे।

वैदिक और पौराणिक ग्रन्थों में एकादश रुद्रों के नाम दिये गये हैं। उसमें शङ्कर वा महादेव के नाम की कहीं चर्चा नहीं है। संहिता में शिव नाम आता है पर अधिकांश में उसका अर्थ कल्याणमय होता है। व्यक्ति विशेष का कोई नाम यह नहीं समझा जाता। किन्तु तैत्तिरीय आरण्यक में शिव का नाम व्यक्ति के रूप में आता है और अम्बिका इनकी स्त्री कही गई हैं। मालूम होता है कि इसी वैदिक नाम का अवलम्बन कर भूत प्रेत और मद्यमांस वाले अनार्य महादेव भी वैदिक समाज में स्वीकृत कर लिये गये। दार्शनिक मत के अनुसार इनका भी समय-समय पर संस्कार होता रहा। इनके विशुद्ध रूप की चर्चा हम सिद्धान्त खण्ड में कर चुके हैं।

शिवलिङ्ग

प्राचीन काल में जननेंद्रिय की पूजा संसार के प्रायः सभी भागों में प्रचलित थी। नेलसन के विश्वकोष‡ में लिखा है—

‡ Nelson's Cyclopaedia phallus or phallic worship. P. 300

बहुत ही प्राचीन काल में अशिक्षित और असभ्य जातियों में अनेक प्रकार की पूजाएँ प्रचलित थीं। यह स्वाभाविक था कि प्रकृति की उत्पादिका शक्ति की भी वे पूजा करें। इसलिये त्योहार वा पूजा पाठ के अवसर पर इसका कोई टेढ़ा-मेढ़ा सांकेतिक चिन्ह रख लिया जाता था। इसका साधारण संकेत जापान के वो-वशीरा की तरह प्रायः लकड़ी का एक खम्भा रहा करता था, अथवा आयर्लैंण्ड के अयाल बुलेगे (को-कौर्क) के ओलन के पत्थर की तरह कोई पत्थर का टुकड़ा हुआ करता था। ब्राश महोदय कहते हैं कि आयर्लैंण्ड के खम्भे की आकृति के बहुत से पत्थर पुरुषेन्द्रिय की प्रतिमा हैं और तारा (Tara) को ... ड-फरगस का आकार और नाम दोनों ही पुरुषेन्द्रिय का है। लिङ्गपूजा अभी जापान से लुप्त नहीं हुआ है और निहोंगी नामक पुस्तक के अनुवाद में (१८९६, पृ० १२) लिखते हैं कि टोकियो के निकट मैंने बड़े उत्सव और समारोह से लोगों को लिङ्ग को सड़कों पर घुमाते देखा। शैव और वैष्णवों के द्वारा लिङ्गपूजा के नाम से आज भी यह पूजा प्रचलित है। आधुनिक युरोप में भी इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। यहाँ इसके अनेक सांकेतिक चिन्ह वर्तमान है, गाँव के रहनेवाले लिङ्ग के प्रतिरूपक अनेक गण्डे-तावीज़ को धारण करते हैं। जगह जगह पर ऐसे टोने-टोटके की बहुत सी बातें हैं जिनका लिङ्ग से सम्बन्ध देखा जाता है। इस विषय में ब्रिटैनी और इङ्गलैंण्ड, स्कौटलैण्ड, आयर्लैण्ड, आदि देशों के आज पास जो बातें मौजूद हैं वे विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।" आयर्लैण्ड में अब भी लिङ्गाकृति के बहुत से मन्दिर और स्तम्भ मौजूद हैं।

संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ लिङ्गयोनि पूजा किसी न किसी रूप में वर्तमान न हो।

इस विषय में वेष्ट्रौप साहब ने ‡ एक पुस्तक लिखी है उसमें उन्हों ने संग्रह किया है कि "भूत और वर्तमान काल में ग्रीस, मिश्रदेश, रोम, असुरदेश (Assyria) प्राचीन अमेरिका आदि देशों में लिङ्गपूजा प्रचलित थी और है। बूदन (Bondin) के मतानुसार लिङ्गपूजा विक्रम की १२ वीं शताब्दी तक जर्मनी, स्लावोनिया, और फ्रांस में प्रचलित थी। इसीके भिन्न भिन्न नाम हैं। लिङ्गपूजा, worship of Periapus, worship of Fascinum, अथवा Pripe-gala इत्यादि। फ्रांस में एक प्राचीन कागज मिला है, इसका नाम है "पादरियों द्वारा अपराधों का विचार"। यह ईसा की आठवीं शताब्दी का लिखा है और इसमें लिखा है—"यदि कोई लिङ्ग के सामने कोई जादू-टोना करे तो उसे तीन लेन्ट (क्रिस्तानों का एक व्रत) तक केवल रोटी और जल पर रह कर प्रायश्चित्त करना चाहिये।" मालूम होता है कि भारतवर्ष में इस मत के अवलम्बी मौजूद थे, जिनका पीछे आर्यों से संघर्ष हुआ।

ये भारतवासी लिङ्गपूजक अनार्य थे। दक्षिण में अनार्यों की संख्या अधिक है और वहाँ ही सका अधिक प्रचार है। श्री गोपीनाथ राव ने लिखा है *—मद्रास का गौड़िमल्लम्

‡ Hodder M. Westrop. Primitive Symbolism as illustrated in phallic worship, published by Messrs. George Redway, London.

* Hindu Iconography, Vol. II., Pt. I, P. 26.

लिङ्ग सम्भवतः हिन्दू तक्षणकला का सबसे प्राचीन नमूना है। उसपर यज्ञोपवीत नहीं है और चार हाथ के बदले शङ्कर के दो ही हाथ दिये गये हैं। शङ्कर की मूर्ति में यज्ञोपवीत का समावेश किया गया यह ठीक ठीक मालूम नहीं होता।"

इससे भी सिद्ध होता है कि शङ्कर और शिवलिङ्ग का प्रारम्भ अनार्यों से ही होता है।

आर्य लिङ्गपूजक नहीं थे। वैदिक ग्रन्थों में ही ऐसे लोगों की निन्दा की गई है। उन्हें "शिश्नदेव" कहा गया है, अर्थात् उन्होंने यह कह कर निन्दा की है कि ऐसे भी लोग हैं जो शिश्न को देवता कह कर पूजते हैं। यह सिद्ध करना कठिन है कि अवैदिकों में इसका जो प्रचार देखा जाता है वह वैदिकों से लेकर किया गया है। आयर्लैण्ड, मिश्र, जापान आदि में इसके वर्त्तमान रहने के कारण यह स्पष्ट है कि अनार्यों में ही इसका प्रचार था। भारतीय आर्य भी अपने देशबन्धु इन गुमराह अनार्यों को नहीं छोड़ना चाहते थे। इनके स्वरूप को भी शुद्ध कर इन्हें आर्यसमाज में मिला लिया। यह संस्कार क्रिया पुराणों में पाई जाती है। ब्रह्मपुराण में लिखा है कि†—एक बार ब्रह्मा और विष्णु आपस में लड़ने लगे। विष्णु कहते थे "हम बड़े" और ब्रह्मा कहते थे "हम बड़े"। इन दोनों के बीच में ज्योति का एक बड़ा विशाल स्तम्भ (लिङ्ग) प्रकट हुआ। उससे शङ्कर निकले। उन्होंने कहा कि जो इस ज्योतिस्तम्भ के अन्त का पता लगावेगा वही बड़ा समझा जायगा। विष्णु सूकर का रूप धर कर नीचे चले और ब्रह्मा राजहंस बन कर

† वायु पुराण। अध्याय ५५

ऊपर। विष्णु लौट आये और सच-सच कह दिया कि पता नहीं लगा। ब्रह्मा को ऊपर से गिरता हुआ केतकी का एक फूल मिला। उसके साथ ब्रह्मा लौट आये और शङ्कर से उन्होंने झूठ कहा कि स्तम्भ का अन्त मुझे मिल गया। केतकी भी साक्षी बनी। शङ्कर ने शाप दिया कि केतकी का फूल कोई मुझे नहीं चढ़ावे और ब्रह्मा की पूजा पृथ्वी पर नहीं होगी। यह कथा लिङ्गपुराण, कूर्म-पुराण और शिवपुराण में भी ज्यों को त्यों पाई जाती है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इस सिद्धान्त का कितना व्यापक प्रचार किया गया था।

इस कथा में एक बात ध्यान देने योग्य है। पुरुषेन्द्रिय से विरक्ति उत्पन्न होती है यह भावना ज्योतिस्तम्भ में बिलकुल विलुप्त हो जाती है। उस स्तम्भ से शङ्कर के प्रकट होने से उस भावना की ओर जरा भी ख्याल नहीं जाता। ज्योतिस्तम्भ और शङ्कर वैदिक हिरण्यगर्भ के व्यञ्जक बन जाते हैं। पीछे इस भावना का प्रचार किया गया कि शङ्कर गिरिश और गिरीश हैं। ये पर्वतों पर निवास करते हैं और पर्वतों के अधीश्वर भी हैं। इसलिये पर्वत के जितने शिखर हैं वे शिवलिङ्ग हैं, और शिवलिङ्ग पर्वतशिखर का संक्षिप्त रूप है†। वृषभ धर्म का स्वरूप है। इसका ककुद् (कन्धौरा) भी लिङ्ग की आकृति से मिलता जुलता है। इसलिये इन्हें धर्माधिरूढ़ वृषभवाहन बना दिया गया††। फिर

† नमः पर्वतलिङ्गाय पर्वतेशाय वै नमः॥

ब्रह्म० ३७.२

†† वृषाणां ककुद् त्वंहि गिरीणां शिखराणि च॥

ब्रह्म० ४०.४८

लिङ्ग को ब्रह्म प्रकृति आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिरूप बना दिया गया।

बुद्धिर्मनश्च लिङ्गश्च महानक्षर एव च।
पर्यायवाचकैःशब्दैस्तमाहुस्तत्त्वचिन्तकाः॥

वायु० १०२.२१

"बुद्धि, मन, लिङ्ग, महान्, अक्षर इन सबों को तत्त्वज्ञानी पर्यायवाची समझते हैं।" अन्तिम दशा में लिङ्ग पूर्ण ब्रह्म का संकेत मात्र बन जाता है। मनीषिगण कहते हैं कि—

लयं गच्छन्ति भूतानि संहारे निखिलं यतः।
सृष्टिकाले पुनः सृष्टिस्तमाल्लिङ्गमुदाहृतम्॥

लय और सृष्टि का विकाश ये दोनों सुप्रभेदागम क्रियाएँ ब्रह्म में हुआ करती हैं इसलिये इसका नाम लिङ्ग है।

शङ्कर और लिङ्ग का सम्बन्ध कैसे हुआ इसका पता निम्न लिखित उद्धरण से लगता है। मिश्र देश के देवता ओसिरिस् का हाल लिखते हुए सर विलियम जान्स कहते हैं कि—

ईश्वर अथवा ईश और ईशानी अथवा ईशी अवश्य ही मिश्र देश के (Osiris) और इसिस् (Isis) हैं; क्योंकि यद्यपि न केवल नाम की समता अथवा आचरण की समता द्वारा भारतीय और मिश्र देशीय देवताओं में समता का दिखलाना सम्भव था, तथापि जब वे दोनों असंख्य घटनाओं द्वारा एक दूसरे से हिलते मिलते हैं तो यह कहना बिल्कुल युक्तिसंगत है कि उनकी समता पक्के प्रमाण पर आश्रित है। पूर्व देश की पौराणिक कथाओं में देवियां पुरुषों की शक्ति का चिन्ह हैं और ईशी का

अर्थ शक्ति है। यह शाक्त शब्द से ही प्रकट होता है जो कि शक्ति शब्द से निकला है और इस शब्द का व्यवहार उन हिन्दुओं के साथ होता है जो प्रधानतः उसी देवी की पूजा करते हैं। प्रकृति का यह स्त्री स्वरूप बहुत सी भाषाओं में और हम लोगों की भाषा में भी इतना परिचित है कि अंगरेजी के गम्भीर से गम्भीर धार्मिक और दार्शनिक लेखक उसकी क्रियाओं का इस प्रकार वर्णन करते हैं जैसे मानो वह कोई सजीव प्राणी हो। किन्तु इस प्रकार मनुष्य के गुणों का आरोपण होने से जनता के मनमें सहज ही भ्रम उत्पन्न हो जाता है और इसकी प्रवृति बहुदेवपूजा की ओर झुक जाती है। प्रकृति का प्रधान कर्म संहार और नवीन वस्तुओं की सृष्टि नहीं है जिसे हमलोग अधिभूत कहते हैं। परन्तु यह क्षण मात्र के लिये छिप जाता और फिर प्रकट हो जा जाता है। अथवा यही बात इस तरह कही जा सकती है कि यह रूप का केवल रूपान्तर मात्र है। इसलिये ठीक ही पाश्चात्य दार्शनिकों ने प्रकृति को निरंतर परिवर्तनशीला कहा है। इसलिये ईशी के साथ मिलकर ईश्वर (और उसी प्रकार इसिस् के साथ मिल कर ओसिरिस्) प्रधान कारण की द्वितीय अवस्था के ध्योतक हैं, उनका प्राकृतिक दृश्य सृष्टि और संहार के रूप में चाहे जो हो।" *

इसी सम्बन्ध में केनेडी ने लिखा है कि ‡ "मिश्र देश के त्रिदेव में ओसिरिस् (Oseris) की भी गणना है। लिङ्ग ही

---

* सर विलियम जोन्स की ग्रन्थावली—पुस्तक ६, पृष्ट ३१८।

‡ Keunedy's Hindu Mythology. P. 38.

इस देवता का प्रधान चिह्न है। इससे हठात् मनमें यह बात उठती हैं कि इसका सुप्रसिद्ध ईश्वर वा शिव और उसके लिङ्ग से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह शिव का भयङ्कर नहीं कल्याण-मय रूप है"—

इससे प्रकट होता है कि लिङ्ग पूजा और ओसिरिस् का निकट का सम्बन्ध है। इसी ओसिरिस ने ईश बन कर जब आर्यों के समाज में प्रवेश किया तो ईश या शङ्कर को लिङ्गसे विभिन्न रक्खा नहीं जा सका। इसलिये शङ्कर और लिङ्ग एक साथ सम्बद्ध हैं।

दुर्गा

यह भी निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि काली दुर्गा इत्यादि देवियों के मूल रूप की उत्पत्ति अनार्यों से ही है। इसकी पुष्टि अनेक प्रकार से होती है। 'इण्डियन ऐन्टीक्वेरी' में पादरी एफ किट्टेल * ने एक लेख लिखा था जो ध्यानपूर्वक मनन करने योग्य है। कुर्ग के दानवों का वर्णन करते समय स्त्री दानवों का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं:—

१. पहली दानवी का नाम चामुण्डी अथवा चउण्डी (चउ-मुण्डी) है। इसका अर्थ होता है मृत्यु की स्वामिनी अथवा मृत्यु का शिकार करनेवाली। उसके नाम का संस्कृत अनुवाद मरी अर्थात् हत्या करनेवाली है। उसे मशानी स्मशानी अर्थात् मुर्दघटी की रहनेवाली औरत भी कहते हैं। यह चमुण्डी सर्वदा केवल एक पत्थर के रूप में पायी जाती है और यह पत्थर

---

* Coorg Superstition. Indian Antiquary 1873. P. 168

एक छोटे मन्दिर के भीतर पड़ा रहता है। इसका पुजारी ब्राह्मण कभी नहीं होता। उसके और तीन नाम हैं। (१) बेटे-चमुण्डी अर्थात् शिकार करनेवाली चमुण्डी, (२) कारी चमुण्डी अर्थत् काले रंगवाली चमुण्डी और (३) पुली चमुण्डी अर्थात् बाघवाली चमुण्डी। एक और दूसरा नाम बीटे-मशानी है और कुछ लोग इस नाम का पत्थर अपने घरों में इसलिये रखते हैं कि जिसमें शिकार हाथ लगे। यह दानवी सब प्रकार से द्राविड़ है।

२. दूसरी दानवी का नाम करिंगाली (कारी काली अर्थात् काले रंग वाली) है। (काली का धातु है काल अर्थात् काला होना। सम्भवतः कृष्ण नाम भी इसी धातु से निकला है) कूर्ग जिले में उसका एक ही स्थान है और वह है कुट्ट नामक एक गांव में। एक घेरे के भीतर एक पत्थर रखा है। उसे लोग करिंगाली कहते हैं। यह ऐसी भयानक है कि पुराने विचार का कोई भी कूर्ग इसका असल नाम न लेगा। इसलिये साधारणतया लोग इसे "कूर्ग की देवी" कहा करते हैं। उसके पुजारी ओक्कलिग अर्थात् कनारी हल जोतनेवाले शूद्र हैं। तामिल देश में यही चाल है। इस देवी के वार्षिकोत्सव के अवसर पर कूर्ग नहीं नाचते, पर कोल, कनारी तेरे और कनारी गड़ेरिया बोट्ट कडूवस और मलेय नाचते हैं। कलिंगानी का स्थान अब ऊँचा हो गया है। इसलिये सूअर का बलिदान नहीं दिया जाता। केवल चिड़ियों की ही बलि दी जाती है।

३. बद्रकाली काडू बद्रकाली अर्थात् जंगल की बद्रकाली है। इसका पुजारी ब्राह्मण है। उसी के स्थान के निकट एक दूसरा

पत्थर है। जिस चिड़िये या बकरे की बलि कूर्ग स्वयं चढ़ाते हैं या उनकी आज्ञा से कोई मलेच्छ ऐसा करता है। तुडुओं में भी इस देवी के सम्बन्ध में ऐसी ही चाल है। ये साल में एक बार किसी ब्राह्मण को इसकी पूजा करने भेज देते हैं। कभी कभी कोई ब्राह्मण भी अपनी जाति के नियमों के विरुद्ध बलिदान करा देता है। काली के नाम को भद्र शब्द लगाकर शायद ब्राह्मणों ने इस दानवी को मङ्गलमयी (भद्र) देवी बनाने की चेष्टा की हो।"

४. कुन्दम्मे (कुन्द-अम्मे) अर्थात् पहाड़ी देवी। यह देवी सर्वत्र नहीं पायी जाती।

इन्डियन एन्टीक्वेरी (१८९३) के पृष्ठ१७० में वहाँकी देवियों पर इसी लेखक का एक लेख है। वह इस प्रकार है—"कूर्गगण वद्रकाली (जिसे पोगोदी तथा पवोदी भी कहते हैं जो भगवती शब्द का तद्भव है) और च्यामुण्डी को एक ही समझते हैं। उसके मन्दिर के निकट ही चिड़ियों, बकरों और भैंसों का खूनी बलिदान किया जाता है। प्रत्येक दूसरे वर्ष में भैंसे की बलि दी जाती है। बलि करने वाला कोई पंवा या मेदक होता है जो जाति का नीच है। उसकी जीविका बाँस की टोकरी और चटाई से चलती है, किसी किसी उत्सव के अवसर पर वह ढोल (हेम्बारे) भी बजाता है। तामिल लोग परिया (ढोल बजाने वाले) से बलिदान कराते हैं और उसे कुछ दे देते हैं। तुलु देश के बन्टगण्ड (गृहस्थ) ढोल बजाने के लिये पुरुवों को बुलाते हैं पर बलिदान स्वयं करते हैं। कूर्ग लोग अपनी देखरेख में पुरुवाओं से बलिप्रदान कराते हैं" उसी पुस्तक के ४८ वें और ४९ वें पृष्ठ में लिखा है—‡

‡ Indian Antiquary 1873

कूर्ग में और एक दानवी की पूजा होती है । इसे कंकाली कहते हैं । महली और दानवियों को फूली (दुष्टा, हानिकर) कहते हैं । ये प्रेतों से भी भयङ्कर समझी जाती हैं । फूली की दुष्टताओं में से एक यह है कि मरते हुए लोगों के आत्मा को ये पकड़ ले जाती हैं ।

कूली दानवियों के महोत्सव पाँच कुलियों के नाम पर होते हैं, चमुण्डी, कल्लुरुटी, पञ्जुरुली, गुलिग और गोरग । इन्हें पञ्चभूत कहते हैं । ये महोत्सव क्रमशः तीन और एक के नाम पर भी होते हैं और उनके नाम क्रमशः कल्लुगुट्टी, पञ्जुरुली, और कल्लुरुटी; तथा चमुराडी हैं । इन दानवियों को चिड़िय और सूअर का वलिदान दिया जाता है । वलिदान करने वाले को इनका शिर दिया जाता है और वाकी शरीर से घर का खाना तैयार होता है ।

वेदी को द्राविड़ में कोट कहते हैं ।

जिस पत्थर पर वलिदान दिया जाता है उसे कोडुकुल्लु कहते हैं । ये कूर्ग जिला में सर्वत्र पाये जाते हैं ।

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है वह पुराणों में दी हुई देवियों से विलकुल मिलता है । पुराणों में उसीका कुछ परिमार्जित और विस्तृत वर्णन है । इससे यह मालूम होता है कि इस उपासना का मूल रूप द्राविड़ों से ही लिया गया है । हर्ष-चरित में वाणभट्ट ने लिखा है कि सम्राट् श्री हर्ष के पिता प्रभाकर वर्धन जिस समय मृत्युशय्या पर पड़े हुए थे उस समय एक बूढ़ा द्राविड़ तान्त्रिक उपचार कर रहा था । इससे भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है । इसलिये देखा जाता है कि

जिस प्रान्त में अनार्य सभ्यता जितनी प्रवल थी वहां तान्त्रिक और देवी साधना का अधिक प्रचार है। वङ्गदेश देवी पूजा का अड्डा है। मिथिला में इसका उससे कम प्रचार है और इससे पश्चिम बढ़ते जाने से यह अधिकाधिक कम होती जाती है। बंगाल में एक देवी की पूजा होती है। इसका नाम है कुलई चण्डी। यह तामिल शब्द कूली चमुण्डी का विकृत रूप है। बिहार में लोग इसे कुलचण्डी कह कर पूजते हैं और यही नाम संस्कृत साहित्य में भी प्रचलित है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तामिल चउमुण्डी, करिंगाली, काडूवद्रकाली, कल्लुरुटी आदि ही क्रम से संस्कृत साहित्य और आर्यसमाज में चामुण्डा, काली, भद्रकाली, काल रात्रि आदि बन गई।

कुन्द-अम्मे का अर्थ होता है पहाड़ी देवी। सम्भवतः यही पौराणिक पार्वती (पर्वत की देवी) का मूल रूप है। शङ्कर भी पहाड़ के देवता (पर्वतेश। ब्रह्म० ३७-२) हैं इसलिये पार्वती को उनकी गृहिणी बनाना स्वाभाविक है।

अनार्यों की इन देवी अथवा दानवियों को पचा कर आत्मसात् कर लेने में आर्यों को कठिनता नहीं हुई। वैदिक साहित्य में अनेक देवियाँ वर्तमान थी। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक में ही सरस्वती का वर्णन मिलता है। वाजसनेय संहिता में अम्बिका रुद्र शिव की भगिनी सूर्य अथवा अग्नि की पुत्री कही गई हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में अम्बिका को वैरोचिनी कहा गया है। वहाँ ये शिव की पत्नी और सूर्य अथवा अग्नि की पुत्री बतलाई गई हैं। मण्डुकोपनिषद् में अग्नि की सात जिह्वाओं का नाम काली, कराली इत्यादि कहा गया है। हरिवंश महापुराण में

दुर्गा मन्त्र रस वरवारस और पुलिनदास की देवी मानी गई हैं। देवियों के ये नाम और स्वरूप अनार्य देवियों को अपनेमें मिला लेने के लिये यथेष्ट थे। अग्नि की एक-जिह्वा का नाम काली था। इसलिये कारिंगाली वा कारी काली को काली वना लेना कठिन नहीं हुआ।

देवीमत को परिवर्तित और परिमार्जित करने में सबसे अधिक हाथ ऋग्वेद के १० वें मण्डल के १२५ वें सूक्त का है। इस सम्पूर्ण सूक्त में ब्रह्म का वर्णन मातृ-रूप में किया गया है। इसका नाम देवीसूक्त है जिसकी साधना कर सुरथ ने देवी से वर लाभ किया था। इसीको आधार वनाकर और दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों का समावेश कर इन द्राविड़ दानवियों को पूर्ण ब्रह्म वना दिया गया। पद्म पुराण में लिखा है कि महिषासुर अविद्या वा अहंकार है और दुर्गा ज्ञान-शक्ति हैं।

साङ्केतिक साहित्य में रावण, महिषासुर कंस आदि अहङ्कार है और राम, दुर्गा, कृष्ण आदि विशुद्ध ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म हैं।

स्कन्द

कार्तिकेय शंकर के प्रथम पुत्र और देवताओं के सेनापति हैं। इनका नाम स्कन्द और सुब्रह्मण्य है। दक्षिणापथ में इनके अनेक मन्दिर और मूर्तियाँ हैं किन्तु उत्तरा पथ में लोग इन्हें प्रायः भूल गये हैं। इनका भी मूल रूप अनार्यों से ही लिया गया है।

वायु पुराण (अध्य० ६९। २७८, २७९) में पिशाँच की सोलह जाति वताई गई है उसमें एक का नाम स्कन्द है। ये सब युद्ध-

भूमि में रक्तपान करते हैं। वायुपुराण में ही अन्यत्र (अध्याय ६९। श्लो० १९१-१९३) स्कन्द को एक प्रकार का उपद्रवी ग्रह कहा गया है। उसी पुराण के ८४ वें अध्याय का १४ वाँ श्लोक इस प्रकार है—

ग्रहास्ते राक्षसा सर्वे बालानां तु विशेषत: ।
स्कन्दस्तेषामधिपति ब्रह्मणोऽनुमते प्रभु ॥

ग्रह और राक्षस होने पर भी वे सब विशेषत: बालकों के ग्रह हैं। एक ब्रह्मा का अज्ञाकारी स्कन्द उन सबों का अधिपति है।

दक्षिणापथ में सुब्रह्मण्य मन्दिर में जिन आठ परिवार देवताओं का स्थान निश्चय किया गया है उनके नाम हैं—यक्षेन्द्र, राक्षसेन्द्र, पिशाचेन्द्र, भूतराट्, गन्धर्व, किन्नर, दैत्यनायक दानवाधिप। *

बंगलोर जिले में बहुत से ऐसे पत्थर पूजे जाते हैं जिनपर साँपों की आकृति खुदी रहती है। उनमें से एक पर सात सिर वाला सर्प बना हुआ है और लोग इसे सुब्रह्मण्य कहते है। ‡

आर्यों से सम्पर्क होने के कारण स्कन्द का यह स्वरूप बिलकुल बदल गया। महाभारत के वनपर्व में कहा गया है कि रुद्र ने स्कन्द का सम्मान किया। इसलिये ये रुद्र के पुत्र हैं। रुद्र का पुत्र बना कर इन्हें देवताओं का सेनापति बना दिया गया। महाभारत के वनपर्व में स्कन्द का जो दिव्य वर्णन

---

* Hindu Iconography Vol II. pt. 1 Page 421.

‡ Indian Antiquary 1875 P. 5.

दिया हुआ है वह पढ़ने योग्य है। उसी प्रसङ्ग में यह कथा है कि स्कन्द इतने प्रतापी हुए कि कोई उनके डर से कुछ नहीं बोल सकता था। शक्ति मद में आकर वे सबकी स्त्रियों से व्यभिचार करने लगे। जब पार्वती को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने स्कन्द को समझाया कि संसार की स्त्रियाँ मैं ही हूँ। उस दिन से ये संसार को मातृमय देखने लगे। यह बात ब्रह्म-पुराण में भी पाई जाती है। † पीछे इस कथा का अवलम्बन कर कालिदास एक महाकाव्य लिखडाले। ‡

मालूम होता है कि शाकद्वीपीय सूर्योपासक मगों के इस देश में आने पर इनका सम्बन्ध सूर्य के साथ कर दिया गया। सात मस्तकवाले सर्प का केवल छः मस्तक ही रखा गया और उसे मनुष्याकृति दी गई। छहो मस्तक छः ऋतु के और बारहो हाथ बारह महीनों के सङ्केत बन गये। अनेक चित्र-विचित्र रङ्गों वाला कुक्कुट अनेक रङ्गों की किरणों वाला सूर्य है, जो प्रातःकाल सम्पूर्ण जगत को उद्बोधित करता है। उनके शक्ति-आयुध भी सूर्य सम्बन्धी ही हैं *

---

† एवं वहाप्य तद्रूपं दृष्ट्वा मातृमयं जगत्।
इतस्त्री नामधेयं यन्मम मातृ समं मतम्॥

ब्रह्म० ८१.१५

‡ कुमार सम्भव।

* Indian Iconography. Vol. II. Pt I. P. 452.

कृष्ण

कृष्ण और अर्जुन नाम ऋग्वेद में भी पाया जाता है। *(ऋ० ६.९.१.) किन्तु उसका अर्थ काला और उजला किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में कृष्ण देवकीपुत्र का वर्णन मिलता है। वासुदेव शब्द पाणिनि, पतञ्जलि आदि के ग्रन्थों में भी मिलता है। कृष्ण की जीवनी जहाँ तहाँ थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ महाभारत, हरिवंश, अग्नि, स्कन्द, भागवत, विष्णु तथा ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में पाई जाती है। कृष्ण कथा का सबसे प्रधान ग्रंथ श्रीमद्भागवत समझा जाता है किन्तु उसके कथानक और पुराणों से अधिक अन्तर नहीं है। कृष्ण की जीवनी में सब से बड़ा परिवर्तन ब्रह्मवैवर्तने आरम्भ किया। राधा का नाम दो एक पुराणों को छोड़ किसी पुराण में नहीं मिलता है, यहाँ तक कि श्रीमद्भागवत में भी नहीं। इसका नाम पहिली बार ब्रह्मवैवर्त में ही आता है। जिस समय माया और ब्रह्म के सिद्धान्त का खूब प्रचार हो चुका था उस समय माया की कल्पना भक्त लेखकों ने राधा के रूप में की। पीछे के जितने लेखक और भक्त हुए उन्होंने इस कल्पित कथा को सातवें आसमान पर पहुँचा दिया। यह पता लगाना सहज नहीं है कि ऐतिहासिक कृष्ण में कब देवत्व का अध्यारोप किया गया। इनके स्वरूप को जब हम लोग देखते हैं तब पूर्ण ब्रह्म के रूप में। विष्णु पुराण में कृष्ण में देवत्व रहने पर भी कथा का कोई कोई अंश बहुत ही साधारण रीति से दिया हुआ है, जो स्वाभाविक और सच्चा मालूम होता है।

* Indian Iconography Vol. I. Pt. I. P. 212

इनके कालीय दमन वाली कथा के सम्बन्ध में श्रीगोपीनाथ राव का अनुमान है कि इसका मतलब कदाचित् अनार्यों की सर्प पूजा का संहार कर आर्य उपनिवेश और सभ्यता का विस्तार करना है।

राम

राम का इतना प्रचार हुआ है और इनके सम्बन्ध में इतनी बातें गढ़ी गई हैं कि कृष्ण की तरह इनके भी ऐतिहासिक महापुरुष होने में लोगों के हृदय में सन्देह होने लगता है।

प्रधानतः रामायण से ही रामकथा का स्वरूप मालूम होता है। किन्तु इसमें कल्पना के उड़ान से इतना काम लिया गया है कि लोगों को राम के मनुष्य होने का सहसा विश्वास नहीं होता। रावण के दश शिर, बन्दरों के पहाड़ उठाने, हनुमान के समुद्र लांघने आदि को पढ़कर भी हम कैसे विश्वास कर सकते हैं। राम कथा कपोल कल्पित नहीं है। किन्तु आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ने से इस कुहरे के भीतर भी इतिहास के प्रकाश की रेखा दिखाई पड़ती है।

"रामायण एक ही बार और एक ही आदमी ने नहीं बनाया। भिन्न भिन्न युग में भिन्न-भिन्न कविगण इसमें अपनी कल्पना की कृतियाँ जोड़ते गये। रामायण के आरम्भ में ही दो विषयानुक्रम दिये हुए हैं। एक में केवल पाँच काण्ड की कथा है, अयोध्या काण्ड से युद्ध काण्ड तक। कथा सुखान्त है। इसमें सीता का निर्वासन नहीं लिखा है। किन्तु दूसरे अनुक्रम में सातो काण्ड का समावेश किया गया है और सीता के निर्वासन की कथा जोड़ कर इसे दुःखान्त बनाया गया है। युद्धकाण्ड के

अन्तिम सर्ग में कुछ ऐसे श्लोक मिलते हैं जिससे मालूम होता है कि महर्षि वाल्मीकि ने वहाँ ही पुस्तक समाप्त कर दी थी। वे श्लोक इस प्रकार हैं।

धर्म्यं यशस्यमायुस्यं राज्ञाञ्च विजयावहम् ।
आदि काव्यमिदञ्चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम् ॥

रा० सर्ग १२८. १०५

शृणोति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम् ।
श्रद्धानो जितक्रोधो दुर्गाण्यतितरत्यसौ ॥

रा०सर्ग १२८.११०

"धर्म यश आयु तथा राजाओं को विजय देनेवाला यह आदि आर्ष काव्य वाल्मीकि ने बनाया। प्राचीन काल में वाल्मीकि द्वारा रचे हुए इस काव्य को जो श्रद्धापूर्वक क्रोध को जीत कर पढ़ेगा वह कठिन दुःखों के भी पार हो जायगा।"

निस्सन्देह उक्त श्लोक महर्षि वाल्मीकि के नहीं प्रत्युत किसी अन्यके बनाये हुए और पीछे से जोड़े हुए हैं; परन्तु मालूम होता है कि इन श्लोकों का बनानेवाला अवश्य ही महर्षि वाल्मीकि के रामायण का बड़ा प्रेमी था। अतः रामायण की पूर्ति के पूर्व वह कभी "आदि काव्यमिदम्" यह आदि काव्य "इदं काव्यम्" यह काव्य, ऐसे ग्रन्थ के पूर्णताशूचक शब्द नहीं लिख सकता था। अतः उत्तरकाण्ड (जिस का अर्थ ही पीछे का काण्ड है), महर्षि वाल्मीकि के रामायण के साथ पीछे से जोड़ा हुआ ज्ञात होता है।

रामायण की दो प्रकार की प्रतियां पहले पहल छपी थीं। एक का नाम गौड़ (बंगाल) प्रति और दूसरे का नाम बम्बई

की प्रति है। बंगाल की प्रति में केवल छः काण्ड थे और बम्बई की प्रति में उत्तर काण्ड सहित सात काण्ड। इटली देश के प्रसिद्ध संस्कृतज्ञ गौरीशिवने स्वदेश भाषानुवाद सहित जिस वाल्मीकि रामायण को महाराज सार्डिनिया की सहायता से छपवाया था उसमें भी केवल छः ही काण्ड थे।

वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड तृतीय सर्ग में जहाँ रामायण की कथाओं का संक्षेप है वहां बाल से युद्ध काण्ड तक की कथाओं का सार लिखते हुए किसी काण्ड का नाम नहीं लिया; परन्तु अन्तिम श्लोक में लिख दिया—"तच्चकारोत्तरे काव्ये वाल्मीकि भगवानृपि" यहां उत्तरकाण्ड का नाम लेना सर्ग की लेख शैली से सर्वथा विरुद्ध है, अतः यह श्लोक प्रक्षिप्त है, एवं उत्तरकाण्ड के विषय प्रक्षिप्त हैं।

उत्तरकाण्ड के अन्तिम सर्ग १११ के प्रथम श्लोक में लिखा है:—

एतावदेतदाख्यानं सोत्तरं ब्रह्मपूजितम्।
रामायणमिति ख्यातं मुख्यं वाल्मीकिना कृतम्॥

अर्थात् इतना यह आख्यान उत्तर सहित ब्रह्मपूजित है। इतना प्रसिद्ध मुख्य रामायण है जिसे वाल्मीकि ने बनाया है। यहाँ भी "सोत्तरम्" उत्तर सहित शब्द संदेहजनक है। अनुमान है कि इस श्लोक के बनानेवाले ने यह समझते हुए कि लोग उत्तर काण्ड को कहीं रामायण का भाग न समझें इसलिये "सोत्तरम्" शब्द लिख दिया।

चम्पू रामायण में जो महाराज भोज के समय बना था, स्पष्ट लिखा है कि यह वाल्मीकि रामायण का सार है, और

क्योंकि चम्पू रामायण में युद्धकांड तक का ही विषय है; अतः सिद्ध होता है कि वाल्मीकि रामायण में छः ही काण्ड हैं।

उत्तर काण्ड में इतनी अधिक सृष्टि नियम विरुद्ध आते हैं कि जिसे आर्ष कहने में सर्वथा जी हिचकता है; अतः उत्तरकाण्ड वाल्मीकि रामायण का भाग नहीं।

रावण एक शीश और दो ही भुजावाला था। महाराणी सीता के सम्मुख जिस समय रावण आया था, मनुष्य मालूम होता था। "दश शीश" का अर्थ है जिसके शीश में दस साधारण शीशों के बराबर शक्ति हो। महर्षि वाल्मीकि ने इसी अभिप्राय से दश ग्रीवादि शब्दों का प्रयोग किया था; परन्तु आज पौराणिक समय में लोग वास्तविक रूपक न समझ सके तो दश गर्दन आदि की कल्पनाएँ कर लीं। क्या श्री रामचन्द्रजी के पिता "दशरथ" इस कारण कहलाते थे कि उनके पास केवल दश रथ थे? अथवा इस कारण कि वह एक समय ही दश रथों पर चढ़ा करते थे।

रावण एक शीश और दो ही भुजाएँ वाला था। इसके लिये निम्नलिखित प्रमाण वाल्मीकि रामायण में ही मिलते हैं। हनुमानजीने लंका में जाकर और छिप कर सोए हुए रावण को निम्नलिखित प्रकार का देखा था।

ददर्श स कपिस्तस्य बाहू शयन संस्थितौ।
मन्दरस्यान्तरे सुप्तौ महाहीरूषिताविव ॥
तस्यराक्षस राजस्य निश्चक्राम महामुखात्।
शयानस्य विनिःश्वासः पूरयन्निव तद्गृहम् ॥

वाल्मीकि० सुन्दरकाण्ड सर्ग १०, श्लोक २१-२४

उस कपि (हनुमान) ने उस राक्षसराज (रावण) के सोते समय के स्थिर दोनों बाहुओं ("बाहू" द्विवचन है) को ऐसा देखा, मानो दो बड़े बड़े क्रुद्ध सर्प पर्वत के भीतर सोये हुए हों। उस सोये हुए राक्षस राज के महामुख ("महामुखात्" एक वचन है) से निकला हुआ श्वास उस घर को भर रहा था।

उक्त श्लोक २१ पर जो "तिलक" नामक सुप्रसिद्ध टीका है उसमें लिखा है:—अथ द्विभुजत्व कथनाद्युद्धादि काल एव विंशति भुजत्वं दशशीर्षत्वं चेति बोध्यम्। अर्थात् यहां (क्योंकि) दो भुजाएं कही गई (अतः) युद्धादि कालों में ही बीस भुज तथा दश शीश समझना चाहिये।

टीकाकारने यहां स्पष्ट दो भुजाएँ और एक शीश लिखा हुआ देखा और अन्यत्र बीस भुजाएँ और दश शीश लिखा हुआ देख कर दोनों परस्पर विरुद्ध लेखों को अविरुद्ध सिद्ध करने का वृथा यत्न किया है, क्योंकि युद्धकाल में भी रावण को एक शिरवाला कहीं कहीं लिखा है। यथा,—

अद्यते मच्छरैश्छिन्नं शिरो ज्वलित कुण्डलम्।
क्रव्यादा व्यपकर्षन्तु विकीर्णं रणपांसुषु॥

(युद्ध करते हुए) श्री रामचन्द्र जी रावण से कहते हैं "अभी तेरा शिर (शिरः एक वचन है) ज्वलित कुंडल सहित मेरे बाणों से कटा हुआ रणभूमि में विक्षिप्त, शवपक्षियों से खींचा जायगा। जब कि रामायण में ही स्पष्ट लिखा है कि रावण को एक शीश और दो भुजाएं थीं और यह बात निर्भ्रान्त परमात्मा के अपरिवर्तनीय सृष्टि नियम के अनुकूल भी है तो क्यों न माना जाय कि रावण के वास्तव में एक शीश और दो

ही भुजाएं थीं ? रावण पुलस्त ऋषि के वंश में था, पुलस्त ऋषि मनुष्याकृति के थे, पुनः रावण की आकृति भी मनुष्य की तरह क्यों न मानी जाय ? क्या निर्भ्रान्त और सर्वशक्तिमान परमात्मा के अपरिवर्तनीय सृष्टि नियम को बदलने की शक्ति किसी में कभी हो सकती है ? कदापि नहीं। रावण तथा उसके मित्र, बान्धव, सहचर और अनुचरवर्ग जब कि मनुष्यों की भाँति परस्पर में तथा हनुमान आदि से बातें कर सकते थे तो उन्हें मनुष्याकृति का ही क्यों न माना जाय ? यह बात कि राक्षस भाँति भाँति के रूप इच्छानुसार धारण कर लेते थे, यदि बहुरूपियों जैसा माना जावे तो कुछ विश्वास में आ भी सकता है; परन्तु अन्य प्रकार (सृष्टि नियम विरुद्ध होने से) कभी भी ठीक सिद्ध नहीं हो सकता। "यक्ष रक्षः पिशाचान्नं मद्यंमांसं सुरासवम्" (मनु) के अनुसार विशेष मद्यमांसादि के सेवन एवं तामसी वृत्तिवाले होने के कारण रावणादि राक्षस कहलाते थे और सतोगुणी वेदानुयायी ऋषियों को सताया करते थे।"......

रावण के दो ही नेत्र, एक ही शीश और दो ही भुजाएं थीं। इनके लिये निम्न लिखित प्रमाण भी वाल्मीकि रामायण में विद्यमान हैं। मेघनाद के मारे जाने पर विलाप करने के पश्चात् रावण जब अति क्रुद्ध हुआ तो:—

तस्य क्रुद्धस्य नेत्राभ्यां प्रापतन्नश्रुविन्दवः।
दीपाभ्यामिव दीप्ताभ्यां सार्चिषः स्नेहविन्दवः॥

युद्धकाण्ड ८२.२२

उस क्रुद्ध (रावण) के दोनों नेत्रों से आंसु की बुंदें वैसे ही गिरने लगीं मानो दो जलते हुए दीपों से ज्वाला सहित तेल के बिन्दु गिरते हों। पुनः जब रावण मारा गया तो उसकी स्त्रियाँ रणभूमि में आ विलाप करने लगीं:—

उत्क्षिप्य च भुजौ काचिद् भूमौ सुपरिवर्तते।
हतस्य वदनं दृष्ट्वा काचिन्मोहमुपागतम्॥
काचिदङ्के शिरः कृत्वा रुरोद मुखमीक्षती।
स्नापयन्ती मुखं बाष्पैस्तुषारैरिव पङ्कजम्॥

युद्धकाण्ड ११०,९,१०

कोई तो उसकी दोनों भुजाओं ("भुजौ" द्विवचन) को उठाकर पुनः पृथ्वी पर उन्हें स्नेह सहित फेरने लगीं, कोई मरे हुए (रावण के) मुख को देख कर मुर्च्छित होने लगीं, कोई उसके शिर ("शिरः" एक वचन) को गोद में रख के उस के मुख को देखती हुई रोने लगीं, और (अपने आंसुओं से) उस मुख को आर्द्र करने लगीं, जैसे कि—तुषार के बाष्प से कमल आर्द्र हो जाता है।

हनुमान और उनके सहचर मनुष्य थे, पूंछवाले बन्दर नहीं। कौन सत असत का विवेकी पुरुष ऐसा है जो विद्याव्रत स्नातक श्रीरामचन्द्रजी की इस सम्मति को पढ़कर कि हनुमान ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, तथा अखिल व्याकरण शास्त्र के ज्ञाता थे यह कह सके कि हनुमान वानर थे? क्या परमात्मा की सृष्टि में कहीं भी ऐसा नियम दिखाई देता है जिससे अनुमान किया जाय कि वानर भी वेदों का ज्ञान धारण कर सकता है? अतः निश्चय

है कि वैदिक ज्ञानों के धारण करनेवाले हनुमान तथा सुग्रीवादि पूंछवाले बानर नहीं थे। अभी थोड़े दिनों की बात है कि रूस और जापानियों का युद्धारम्भ हुआ था तो जापानियों की कूद फांद देख रूसियों ने उनका नाम (येलो मंकी) "पीले बन्दर" रख दिया था। (जापानियों का रंग कुछ पीला होता है) यह शब्द जापानियों के लिये वर्षों तक रूस में व्यवहृत होता रहा। (रसियन बेयर) रूसी भालू ऐसे शब्द हैं जिन्हें आज भी सब यूरोपवाले तथा अन्यान्य कई देशों के लोग व्यवहृत करते हैं। (ब्रिटिश लायन) ब्रिटिश सिंह वा "जानवुल" ऐसे शब्द हैं जो बराबर अंगरेजों के लिये व्यवहृत होते हैं। नागवंशी क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं जिनके वंश में ही छोटा नागपुर आदि के कई महाराज हैं जो अपने को साभिमान "नाग" कहते हैं। क्या वे नाग अर्थात सर्प हैं? नहीं। नाग की तरह क्षात्रक्रोध धारण करने के कारण उनका वंश नाग कहलाता है। एवं विशेष स्फूर्ति वाले सुग्रीवादि के सहचर तथा अनुचरादि वानर कहलाते थे। महर्षि वाल्मीकि के वास्तविक भावों को न समझ, भारत में जब कि अद्भुद गाथा वर्णन की शैली पुराणों के समय से प्रचलित हुई तब हनुमान, सुग्रीवादि के नामों के साथ अद्भुत गाथाएँ बढ़ायी गयीं। क्या कभी ऐसा हो सकता है कि वानर जाति की राजधानी किष्किन्धा का वर्णन मनुष्यों की एक समृद्धिशालिनी राजधानी जैसा रामायण में विद्यमान हो और फिर उसके निवासी और राजकार्य संचालक पूंछों वाले बानर माने जांय? काव्य की शैली है कि किसी के नाम को भी उसके पर्य्यायवाची शब्दों से पुकारते हैं इसी कारण बानर के साथ में कप्यादि का भी

रामायण में प्रयोग है। अन्यान्य काव्यों में भी विश्वामित्र के लिये सर्वमित्र तथा दशरथ के लिये पांक्तरथ व्यवहृत हुए हैं।

हनुमान समुद्र को कूद नहीं गये थे, तैर गये थे। इस समय लंका और भारत के बीच ५८ मील का अन्तर है। भारत और लंका के बीच मनार तथा रामेश्वर नाम दो टापू हैं जो पैंतीस मील है। अतः समुद्र भाग केवल २३ मील है। (देखिये इन्टर नेशनल ज्योग्राफी पृष्ठ ५०४) उस समुद्र भाग में भी जल बहुत थोड़ा रहता है। जब कि फ्रांस और इङ्गलैण्ड के बीच के इङ्गलिश चैनल नाम खाड़ी को (जिसकी चौड़ाई प्रायः २१ मील है) कई बलवान पुरुष तैर जाते हैं, तो हनुमान जैसे वीर बालब्रह्मचारी का भारत और लङ्का के बीच के २३ मील समुद्र-भाग का तैरना कदापि असम्भव नहीं माना जा सकता। वाल्मीकि रामायण में ही इस विषय का उल्लेख भी पाया जाता है।

एष पर्वत संकाशो हनुमान् मारुतात्मजः,
तितीर्षति महावेगः समुद्रं वरुणालयम्।
सागरस्थोर्मिजालानामुरसा शैल वर्ष्मणा,
अभिघ्नंस्तु महावेगः पुप्लुवे स महाकपि।
विकर्षन्नूर्मिजलानि बृहन्ति लवणाम्भसि,
पुप्लुवे कपि शार्दूलो विकिरन्निव रोदसी,

सुन्दर काण्ड सर्ग १, श्लोक २७, ६७, ६८

अर्थात् पर्वत के समान दृढ़ हनुमान (मानो वेगवान वायु के पुत्र ही हो) महावेगवान वरुणालय (समुद्र) को तैरने लगे। पर्वतशिला की तरह सुन्दर दृढ़ अपनी उरसा अर्थात् छाती से

समुद्र के तरंगों पर धक्का देते हुए महावेगवान कपि तैरने लगे। (महान खारे जल में) अर्थात् महासागर में लहरों की जाला को चीरते हुए कपि शार्दूल उसी प्रकार (वेग से) तैरने लगे जैसे कि आकाश में फेंकी हुई कोई वस्तु (जा रही हो) वा द्यावापृथ्वी आकाश में चल रहे हों।

समुद्र पर सेतु बनाना अशक्य नहीं था रामायण में लिखा है कि—

हस्ति मात्रान् महाकायाः पाषाणश्च महाबलाः,
पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च।

—युद्धकाण्ड सर्ग २२, श्लोक २६

अर्थात् महाकाय, महाबलि, बानर, (गण) यन्त्रों द्वारा† पर्वतों को गिरा कर हाथी के बराबर पत्थरों को ढोने लगे और नील की शिक्षानुसार इन सब वस्तुओं को समुद्र में डालने लगे।

जो लोग यह कहते हैं कि समुद्र में पूल बाँधना सर्वथा असम्भव है, उन्हें चाहिये कि भारत और लंका के बीच के समुद्र भाग का वर्णन किसी अच्छे भूगोल में देखें। इन्टर नेशनल ज्योग्राफी के पृष्ठ ५०४ में मिल साहब जो लिखते हैं उसका सारांश यह है:—

"लंका और भारत के बीच मनार नाम की खाड़ी है परन्तु

---

† जबकि पर्वतों की शिलाओं को टुकड़े टुकड़े करने का यन्त्र वानरों के पास था, तो बड़ी बड़ी शिलाओं के ढोने का यन्त्र भी बानरों के पास होना असम्भव नहीं।

मनार तथा रामेश्वर नाम के टापुओं तथा मूंगावाले चट्टानों (जिन्हें "आदम का पूल" कहते हैं) के बीच में होने से भारत प्रायः लंका के साथ जुड़ा हुआ है। उक्त मूंगावाले चट्टानों के बीच कहीं भी इतना जल नहीं है जिससे कोई बड़ा जहाज निकल सके। लंका को रेल द्वारा भारत के साथ जोड़ देने के सर्वे (पैमाइश) हुई है, जिसके अनुसार ३५ मील रेल मनार तथा रामेश्वर टापुओं पर, २२ मील रेल उक्त मूंगावाले चट्टानों पर, और केवल एक मील रेल मनार की खाड़ी पर, जिसमें जल बहुत कम रहता है; अर्थात् कुल ५८ मील रेल बनने वाली है।"

इस समय जब कि लोग लंका और भारत के बीच रेल बनाने को तैयार हैं तब श्रीराम ने अत्यल्प जलवाले समुद्र भाग पर यदि पूल बना दिया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! लंका और भारत के बीच का जो पथरीला भाग आदम के पूल के नाम से आज पुकारा जाता है उसे श्रीराम के पूल का भाग कहने में हम कभी हिचक नहीं सकते।

शोक है कि वेबर आदि कई युरोपीय और उनके कोई कोई भारतीय शिष्य संस्कृत साहित्य से पूर्ण परिचित न होने के कारण कहा करते हैं कि रामायण एक अलंकार युक्त ग्रन्थ है। "सीता" का अर्थ हल है, "राम का अर्थ हल चलाने-वाला है, आदि; परन्तु इनसे यदि कोई पूछे कि रामायण में आये हुए अन्यान्य पुरुषों के नाम भी अलंकार के साथ घटाओ तो बेचारे घटा नहीं सकते। घटावें तब जब कि रामायण कोई अलंकार हो। जब कि रामचन्द्रजी के वंशज महाराणा उदयपुर

तथा भारत के कई भागों में अन्यान्य क्षत्रियभूषण विद्यमान हैं, जब कि रामायण की कथा को सत्य माननेवाली करोड़ों भारतीय प्रजा ही नहीं प्रत्युत अमेरिका (पाताल) में भी राम सीता के नाम से उत्सव मनानेवाली एक प्राचीन जाति विद्यमान है, तो कैसे कोई सिद्ध कर सकता है कि रामायण की कथा काल्पनिक है ? क्या संसार के इतिहास से एक भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है कि काल्पनिक कथाओं के पीछे करोड़ों मनुष्य ऐसे लट्टू हो गये हों कि उस कथानुसार अपने अनेक बड़े बड़े उत्सव मनाते हों ? यदि श्रीराम सीतादि कल्पित पुरुष होते तो क्या कभी सम्भव था कि संस्कृत साहित्य के पचासों ग्रन्थ उनके यश से परिपूरित होते ? और उनके पीछे की आर्यसंतान उनके नामों को बराबर गौरव के साथ स्मरण करती आती ?"†

राम के इतिहास का पता लगाने के लिये हम लोग वाल्मीकि रामायण को ही एक मात्र साधन समझते हैं पर संस्कृत साहित्य में इसके अनेक साधन हैं। कथा सरित्सागर तथा अनेक पुराणों में राम की कथा मिलती है। पाली तथा तामिल ग्रन्थों में भी राम कथा मिलती है। ब्रह्म पुराण में भिन्न भिन्न स्थलों में (अध्याय १५६, १५७, १७०, १७६) रामकथा का प्रसङ्ग आया है। १२३वें अध्याय में जो वर्णन है उसमें देवत्व का समावेश नहीं किया गया है। ऐसे साहित्य के आलोचनात्मक अध्ययन से काव्य-कल्पना का कुहरा बहुत कुछ हटाया जा सकता है। भिन्न भिन्न युगों में भक्तों और कवियों ने अपनी कल्पना से अनेक

† देखिये—प्रो० रामदेव। भारतवर्ष का इतिहास।

परिवर्तन किये। वर्तमान राम हिन्दू समाज में नर और नारायण दोनों ही रूप में वर्तमान हैं।

विष्णु

विष्णु विशुद्ध वैदिक देवता विष्णु हैं। विष्णु नाम चारों वेद में पाया जाता है, किन्तु किसी वेद में परब्रह्म वा परमेश्वर कह कर इनका वर्णन नहीं हुआ है। ऋग्वेद का मन्त्र है कि विष्णु ने "इसका निर्माण किया और तीन स्थान पर पैर रक्खा"। इसका लोग अनेक अर्थ करते हैं और कहा जाता है कि विश्व की सृष्टि कर विष्णु ने तीन पग में इसे नाप लिया। शाकपुणि एक प्राचीन वेद के भाष्य करनेवाले हो गये हैं। उन्होंने लिखा है कि पृथ्वी, अन्तरिक्ष, और आकाश में अग्नि विद्युत और सूर्य के रूप ही विष्णु के तीन पद हैं। एक दूसरे भाष्यकार ओर्णनाम का कहना है कि सूर्य की उदय कालीन, मध्यकालीन और सायंकालीन तीन अवस्थाएँ ही विष्णु के तीन पद हैं। ध्येय: सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायण:, सरसिजासन-सन्निविष्ट: आदि में ध्यान मन्त्र में भी यही भाव पाया जाता है।

वेदों में आदित्य अदिति पुत्र कहे गये हैं और इनकी संख्या ७ या ८ कही गई है। शतपथ ब्राह्मण में एक बार उनकी संख्या ८ और एक वार बारह बताई गई है। उनमें से विष्णु भी एक हैं। महाभारत में १२ आदित्य कश्यप और अदिती के पुत्र कहे गये हैं। उनमें सबसे छोटा विष्णु सबसे अधिक तेजस्वी और प्रभावशाली कहा गया है। दार्शनिक सिद्धान्तों में भिन्न-भिन्न युगों में परिवर्तन के कारण उसी के अनुसार इनके स्वरूप

में भी परिवर्तन होता है। विष्णुपुराण (१.२२.३) और भगवती गीता का सिद्धान्त है कि आदित्यानामहं विष्णुः। इनके स्वरूप की हम चर्चा कर चुके हैं।

गणेश

गणेश अनार्य देवता है। प्रारम्भिक अवस्था में ये कोई प्रेत के समान तोंदवाले विकटाकार गण थे। अनार्यों ने अपनी कल्पना के अनुसार ही इनकी आकृति का अनुमान किया होगा। भगवान शङ्कर और पार्वती के सम्बन्ध में ब्रह्मपुराण में लिखा है—

भगवान् हिमवच्छृंगे स हि देव्याः प्रियेच्छया।
गणेशैर्विविधाकारैर्हासं सञ्जनयन्मुहुः॥
देवीं वालेन्दुतिलको रमयंश्च रराम च॥

ब्रह्म० । ३८.२२

'पार्वती को प्रसन्न करने के लिये भगवान शङ्कर हिमाद्रि के शृङ्ग पर अनेक प्रकार के गणेशों के साथ बरावर हंसते हुए अपना और देवी का मन बहलाने लगे।" यहाँ गणेश शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया गया है। वायुपुराण में लिखा है—

पूतना नाम भूतानां ये च लोकविनायकाः।
सहस्रशतसंख्यानां मर्त्यलोक विचारिणाम्।
एवं गणशतान्येव चरन्ति पृथ्वीमिमाम्॥

वा.पु०६९.१ ७,१९३।

यहाँ भी सैकड़ों गणों और विनायकों का वर्णन किया गया है। पीछे अद्वैत सिद्धान्त के प्रभाव के कारण इन गणों के एक गणपति निश्चित हुए। वेद में गणपति शब्द वर्तमान था ही।† उसके साथ मिलाकर ये ब्रह्म के संकेत बना लिये गये।

† गणानां त्वा गणपतिं हवामहे।

उपसंहार

हिन्दू सभ्यता हिन्दुस्थान की वस्तु है। यह न केवल आर्यों की है न अनार्यों की। प्रत्येक युग में इस देश के निवासियों वा भारत को मातृभूमि मानने वाले आगन्तुक गणों का जब जब संघर्ष हुआ तब तब इसका रूप बदलता गया। इसमें एक विशेषता यह है कि भारत निवासी जनता में आर्य ही सबसे अधिक प्रबल शरीर और मस्तिष्क वाले थे। दूसरों को आत्मसात् कर इनने उसपर अपना रंग चढ़ाया, उनका रंग अपने ऊपर न जमने दिया। आज की हिन्दू सभ्यता का मन्दिर कितने सुन्दर-असुन्दर साधारण-असाधारण उपादानों का बना हुआ रहने पर भी आर्य कारीगरी का नमूना है। यह क्रिया मुसलमानों के साथ भी चल सकती थी और इसका आरम्भ भी हो चुका था। अल्लाह उपनिषद् बन चुका था, † और सम्भव था मुसलमान सभ्यता के मिलने से हिन्दू धर्म का रूप और कुछ परिवर्तित होता वा एक सम्प्रदाय के रूप में मुसलमान गण हिन्दू जनता के अन्तर्भुक्त हो जाते। पर अनेक कारणों से ऐसा न हो सका। मुसलमानों के समय निरर्थक अहम्मन्यता के कारण खानपान सम्बन्धी छूआछूत ने विकट रूप धारण कर लिया था। इसलिये आर्य, गण स्वतंन्त्रता पूर्वक इनके साथ आचार विचार का आदान प्रदान न कर सकते थे। दूसरा कारण यह है कि आर्य जाति संसार में सब से अधिक प्रबल शारीरिक और मानसिक शक्तिवाली जाति

---

† राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा प्रकाशित।
J. A. S. of Bengal. Txi, Page. 170

है। शारीरिक पराधीनता का यह सर्वदा अवरोध न कर सकी पर इसने कभी किसी की मानसिक अधीनता स्वीकार न की। आज भी इसका वह गर्व और अहम्मन्यता का भाव ठीक वैसा ही बना हुआ है जैसा किसी सभ्य और सम्मुन्नत जाति में हुआ करती है। मुसलमान लोग अपनेको बहुत श्रेष्ठ समझते थे— बुद्धि से नहीं, तलवार से। यदि बुद्धि से अपने को श्रेष्ठ साबित करने की चेष्टा करते तो पहले की जातियों के समान ये भी हिन्दू राष्ट्र में मिल जाते, पर इतनी कुशाग्र बुद्धि नहीं रहने के कारण ये वैसा न कर सके। इन्होंने सभी बातों में पशुबल का प्रयोग आरम्भ किया। परिणाम यह हुआ कि पूर्ण असहयोग द्वारा म्लेच्छ इत्यादि कह कर आर्यों ने इन्हें दूर रखा और ७०० वर्ष तक साथ रहने पर भी इन्हें नीच और हेय बन कर ही रहना पड़ा। हिन्दू जाति में ऐसा लचीलापन और जीवनी शक्ति की प्रचुरता है कि जब जैसी आवश्यकता पड़ी उसीके अनुसार इसने काम किया। वर्त्तमान युग में इसके नये रूप में संसार के सामने उपस्थित होने का कार्य आरम्भ हो चुका है। भविष्य में क्या होगा यह कहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

इस समय इसकी एक ही बहुत बड़ी आवश्यकता है कि यह नाना रूप में अपनी बिखरी हुई सामाजिक और धार्मिक शक्ति को एकत्र करे अर्थात् इसकी जितनी वर्तमान कुरीतियाँ और समाज को टुकड़े टुकड़े कर इसकी शक्ति को बिखेरनेवाली कमजोरियाँ इसे निःसहाय और बेचारा बना रही हैं उन सबों का निर्दयता और दृढ़ता पूर्वक संहार कर इसका संगठन किया जाय।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

शिखा और यज्ञसूत्र

हिन्दुओं का प्रधान चिह्न शिखा और सूत्र है। ब्राह्मण ग्रन्थों में शिखा सूत्रवाले ऋषियों का वर्णन है, किन्तु किसी आर्ष ग्रन्थ में इसकी उपयोगिता का सीधा-सादा वर्णन नहीं मिलता है।

शिखा के विषय में कितने मनीषियों का कहना है कि यह ब्रह्मरन्ध्र का आच्छादक है। ब्रह्म प्राप्ति ही मानव जीवन का प्रधान उद्देश्य है। इसलिये स्थान के सूचक और रक्षक शिखा की आवश्यकता हुई।

सूत्र बाल्यकाल में धारण किया जाता है और सन्यासावस्था में तोड़ कर फेंक दिया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि इसका प्रयोजन ब्रह्मचर्य्य, गार्हस्थ्य और वाणप्रस्थ तक ही होता है। प्रारम्भ में इसके तीन सूत्र इन्हीं तीनों अवस्था के द्योतक थे। यह यज्ञोपवीत के मन्त्र से भी प्रकट होता है। उस मन्त्र में कहा गया है कि यज्ञोपवीत की उत्पत्ति प्रजापति के साथ ही हुई। प्रजापति के साथ उत्पन्न होने का अर्थ यह है कि जिस प्रकार प्रजापति से संसार की सृष्टि और वृद्धि होती है उसी प्रकार प्रथम तीन आश्रमों से संसार के राष्ट्र और सभ्यता की वृद्धि होती है। जो राष्ट्र संयम पूर्वक अपनी सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन कर और नवीन सत्यों की खोज कर इसे

पूर्वसंञ्चित संस्कृति के भण्डार में नहीं मिलाता वह कदापि प्रगतिशील नहीं हो सकता, बल्कि कुछ ही काल में उसका नाश हो जाता है। गार्हस्थ्य द्वारा अपनी सभ्यता तथा जाति का पूर्ण विस्तार करना प्रत्येक पुरुष का कर्त्तव्य है। उसी प्रकार चिन्तन द्वारा राष्ट्र की शक्ति का सञ्चय और वृद्धि करना वाणप्रस्थ से होता है। इन तीनों को ही ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण कहते हैं। प्रत्येक सूत्रधारी का कर्त्तव्य है कि इन तीनों ऋणों को चुकावे। यज्ञोपवीत देने के समय वेद और अग्नि को साक्षी कर प्रत्येक आर्य बालक से यह प्रतिज्ञा कराई जाती है कि ब्रह्मचर्य्य पूर्वक विद्याध्यन कर, गार्हस्थ्य द्वारा तथा वाणप्रस्थाश्रम द्वारा मैं तीनों ऋण चुकाऊँगा और जब तक कार्य साङ्गोपाङ्ग पूरा न हो जाय तबतक सोते-जागते, उठते-बैठते, सर्वत्र और सब अवस्था में इसका स्मारक यह यज्ञ सूत्र मैंने गले में धारण किया। यह सर्वदा मुझे याद दिलाता रहेगा कि उपर्युक्त मेरे जीवन के प्रधान उद्देश्य हैं और इनके विरुद्ध मैं आचरण न करूँगा। व्रत और सङ्कल्प से सत्कर्म में जो दृढ़ता प्राप्त होती है, यज्ञोपवीत धारण करने से भी वही होता है। पवित्र जीवन की यह प्रतिज्ञा करके ही प्रत्येक आर्य बालक वेद स्पर्श, करने का अधिकारी होता है। प्रवर देने का भी यही उद्देश्य है। ब्रह्मपुराण में विष्णुमानस पूजा के प्रसङ्ग में कहा है—

ऋग्यजुःसाममन्त्रेण त्रिवृतं पद्मयोनिना ।
सावित्रीग्रन्थिसंयुक्तमुपवीतं तवार्पये ॥

ब्रह्म० ६१.२२

"ब्रह्मा के द्वारा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के मंत्रो से घिरे हुए और सावित्री रूपी ग्रन्थि सहित उपवीत मैं आपको अर्पण करता हूँ।" इससे भी सिद्ध होता है कि वेदोक्त और वेदविहित जीवन यापन की प्रतिज्ञा करना और आजीवन इस व्रत को धारण करना ही यज्ञोपवीत का उद्देश्य है। जिनका जीवन अवैदिक है और जो अपवित्र जीवन व्यतीत करते हैं उनका यज्ञोपवीत धारण करना और न करना बराबर है। किन्तु जो यज्ञोपवीत न धारण कर भी पवित्र साधनामय जीवन बिताते हैं वे ही सच्चे यज्ञोपवीत वाले वैदिक हैं।

ब्रह्मा का कन्यागमन

कोई कन्यागमन करे यह बड़ा वीभत्स व्यापार मालूम होता है, और कोई सभ्य जाति यदि अपनी सभ्यता के इतिहास में इसे स्थान दे तो यह और भी वीभत्स हो उठता है। पुराणों में यह कथा पढ़ कर बहुत से अर्द्धशिक्षितों के हृदय में यह सन्देह हो जाता है कि यह पतित समाज का चित्र है। पुराण की एतद्विषयक आलङ्कारिक भाषा सब की समझ में नहीं आती है। इस सन्देह का निराकरण मत्स्य पुराण में किया गया है। मनुने मत्स्य से पूछा कि ब्रह्माने कन्या गमन क्यों किया? यह बड़ा गर्हित कर्म है। इस पर मत्स्य ने उत्तर दिया—

"यह आदि सृष्टि दिव्य है। रजोगुण से इसकी उत्पत्ति हुई है। इन्द्रियों द्वारा इसका ज्ञान नहीं हो सकता। दिव्यज्ञान से उत्पन्न यह दिव्य तेजवाली है। चर्मचक्षु द्वारा मनुष्य जो कुछ चारो ओर देखते हैं उसके द्वारा इसके भीतर प्रवेश नहीं

कर सकते। जिस प्रकार सर्प सर्पों का और आकाश में पक्षी पक्षियों का मार्ग जान लेते हैं, उसी प्रकार दिव्यगण दिव्यों का रास्ता जान लेते हैं, पर मनुष्यगण दिव्य नहीं हैं। देवताओं के सम्बन्ध में जो कार्य-अकार्य कहे गये हैं उसके समझने की शक्ति नहीं होने के कारण उसकी आलोचना प्रत्यालोचना करना मनुष्यों के लिये कल्याणकर नहीं होता।

और भी सुनिये। सभी वेदों के आधार ब्रह्मा हैं। गायत्री भी वेदमाता हैं, इसलिये ये एक दूसरे के अङ्ग कहे जाते हैं। वे मूर्त हों वा अमूर्त, ये जोड़े कहलाते हैं। जहाँ भगवान् ब्रह्मा का निवास है वहाँ सरस्वती भी वर्तमान हैं। जहाँ जहाँ भारती हैं वहाँ वहाँ प्रजापति भी हैं। जिस प्रकार छाया धूप से भिन्न नहीं रह सकती उसी प्रकार गायत्री ब्रह्मा से भिन्न नहीं रह सकतीं। ब्रह्मा वेद के समूह हैं और सावित्री अधिष्ठान वेदों में है इसलिये ब्रह्मा और सावित्री के सम्पर्क में कोई दोष नहीं है।" †

---

† मत्स्य उवाच।

दिव्येयमादिसृष्टिस्तु रजोगुणसमुद्भवा।
अतीन्द्रियेन्द्रियातद्वदतीन्द्रियशरीरिका॥
दिव्यतेजोमयी भूप दिव्यज्ञानसमुद्भवा।
न मर्त्यैरभितः शक्या वक्तुं वै मांसचक्षुभिः॥
यथा भुजङ्गाः सर्पाणामाकाशं विश्वपक्षिणाम्।
विदन्तिमार्गं दिव्यानां दिव्या एव न मानवाः॥

...स यहां कहा जा सकता है कि ज्ञानराशि की माता गायत्री, सावित्री वा सरस्वती ज्ञान हैं और ब्रह्मा कर्म हैं। ज्ञान कर्म के विना पंगु है और कर्म ज्ञान के विना अन्धा है। जब ज्ञान और कर्म मिल जाते हैं तभी आधिभौतिक और आध्यात्मिक सभी कार्य हो सकते हैं। एक के अभाव से ही दूसरा बेकार हो जाता है। यही बात पुराण की आलङ्कारिक भाषा में कही गई है:—

कार्याकार्ये न देवानां शुभाशुभफलप्रदे।
यस्मात्तस्मान्न राजेन्द्र तद्विचारो नृणां शुभः॥
अन्यच्च सर्ववेदान्तर्माधिष्ठाता चतुर्मुखः।
गायत्री ब्रह्मणस्तद्वदङ्गभूता निगद्यते॥
अमूर्त मूर्तिमच्चापि मिथुनं तत्प्रचक्षते।
विरिञ्चिर्यत्र भगवांस्तत्र देवी सरस्वती॥
भारती यत्र यत्रैव तत्र तत्र प्रजापतिः॥
यथा तपो न रहितश्छायया दृश्यते क्वचित्।
गायत्री ब्रह्मणः पार्श्वं तथैव न विमुञ्चति॥
वेदराशिः स्मृतो ब्रह्मा सावित्री तदधिष्ठिता।
तस्मान्न कश्चिद्दोषः स्यात् सावित्रीगमने विभो॥

मत्स्य॥ ४.३-१०